खाता है वह जीव है और जो नहीं खाता जीव को फल खाते हुए अर्थात् इस जगत् के कर्म करते हुए देखता है वह ईश्वर है। ईश्वर देखता है, अत: वह अच्छे या बुरे कर्म के अनुसार दण्ड देता है। ईश्वर पर दु:ख और अज्ञान का अध्यारोप नहीं किया जा सकता। किसी कवि ने लिखा है—

खिलाता है, खाता नहीं वह खुदा है,
पिलाता है, पीता नहीं वह खुदा है,
चलाता है, चलता नहीं वह खुदा है,
हिलाता है, हिलता नहीं वह खुदा है॥

वेद भी कह रहा है। (अनश्नन् अन्योऽभि चाकशीति) ईश्वर इस सृष्टि का अध्यक्ष है। अब इस विषय का अधिक विस्तार न करते हुए इतना ही कहना पर्याप्त है कि हमने इस पुस्तक में ईश्वर, जीव और प्रकृति के विषय में वेद क्या कहता है, बतलाया है। विषय कठिन है, परन्तु इसे सरल और रोचक बनाने का प्रयत्न किया है।

इस ग्रन्थ के लेखन में पू० स्वामी श्री वेदानन्दजी के ग्रन्थों का सहयोग लिया है। प० श्री सत्यव्रत जी सिद्धान्तालकार का तो मेरे ऊपर बहुत प्रभाव है, वे तो मेरे गुरु हैं। पूज्य स्वामी श्री जगदीश्वरानन्द जी सरस्वती के विषय में क्या कहूँ वह आयु में मुझसे बहुत कम हैं पर आश्रम और ज्ञान में बहुत अधिक। मेरा जो भी ग्रन्थ प्रकाशित होता है, वह प्रभु की दया और पू० स्वामीजी की शुभकामना, परिश्रम, उसे ठीक रूप देना या परिमार्जन करना और विषय को सरल बनाना सब उनका किया है। वे तो मेरा पुस्तक पर नाम रखवा देते है, सारा मार्गदर्शन उनका होता है उनका धन्यवाद करते हुए सकोच होता है। पर धन्यवाद करूँगा और श्री विजयकुमार जी सञ्चालक गोविन्दराम हासानन्द ने भी मेरी अनेक पुस्तकें प्रकाशित कर जो मुझपर कृपा है, उसके लिए उनका धन्यवाद है। अन्त मे प्रभु का धन्यवाद है।

१७५ जाफरा बाजार
गोरखपुर
२७-७-८५

सुरेशचन्द्र वेदाल
एम० ए०

विषय-सूची

खाता है वह जीव है और जो नहीं खाता जीव को फल खाते हुए अर्थात् इस जगत् के कर्म करते हुए देखता है वह ईश्वर है। ईश्वर देखता है, अतः वह अच्छे या बुरे कर्म के अनुसार दण्ड देता है। ईश्वर पर दुःख और अज्ञान का अध्यारोप नहीं किया जा सकता। किसी कवि ने लिखा है—

खिलाता है, खाता नहीं वह खुदा है,
पिलाता है, पीता नहीं वह खुदा है,
चलाता है, चलता नहीं वह खुदा है,
हिलाता है, हिलता नहीं वह खुदा है॥

वेद भी कह रहा है। (अनश्नन् अन्योऽभि चाकशीति) ईश्वर इस सृष्टि का अध्यक्ष है। अब इस विषय का अधिक विस्तार न करते हुए इतना ही कहना पर्याप्त है कि हमने इस पुस्तक मे ईश्वर, जीव और प्रकृति के विषय मे वेद क्या कहता है, बतलाया है। विषय कठिन है, परन्तु इसे सरल और रोचक बनाने का प्रयत्न किया है।

इस ग्रन्थ के लेखन मे पू० स्वामी श्री वेदानन्दजी के ग्रन्थों का सहयोग लिया है। प० श्री सत्यव्रत जी सिद्धान्तालंकार का तो मेरे ऊपर बहुत प्रभाव है, वे तो मेरे गुरु है। पूज्य स्वामी श्री जगदीश्वरानन्द जी सरस्वती के विषय मे क्या कहूँ वह आयु मे मुझसे बहुत कम हैं पर आश्रम और ज्ञान मे बहुत अधिक। मेरा जो भी ग्रन्थ प्रकाशित होता है, वह प्रभु की दया और पू० स्वामीजी की शुभकामना, परिश्रम, उसे ठीक रूप देना या परिमार्जन करना और विषय को सरल बनाना सब उनका किया है। वे तो मेरा पुस्तक पर नाम रखवा देते है, सारा मार्गदर्शन उनका होता है उनका धन्यवाद करते हुए सकोच होता है। पर धन्यवाद करूँगा और श्री विजयकुमार जी सञ्चालक गोविन्दराम हासानन्द ने भी मेरी अनेक पुस्तकें प्रकाशित कर जो मुझपर कृपा है, उसके लिए उनका धन्यवाद है। अन्त मे प्रभु का धन्यवाद है।

सुरेशचन्द्र वेदालंकार
एम० ए०

१७५ जाफरा बाजार
गोरखपुर
२७-७-८५

विषय-सूची

खाता है वह जीव है और जो नहीं खाता जीव को फल खाते हुए अर्थात् इस के कर्म करते हुए देखता है वह ईश्वर है। ईश्वर देखता है, भले बुरे कर्म के अनुसार दण्ड देता है। ईश्वर पर दुःख और अज्ञान का अध्यारोप किया जा सकता। किसी कवि ने लिखा है—

खिलाता है, खाता नहीं वह खुदा है,
पिलाता है, पीता नहीं वह खुदा है,
चलाता है, चलता नहीं वह खुदा है,
हिलाता है, हिलता नहीं वह खुदा है॥

वेद भी कह रहा है। (अनश्नन् अन्योऽभि चाकशीति) ईश्वर इस सृष्टि का है। अब इस विषय का अधिक विस्तार न करते हुए इतना ही कहना पर्याप्त हमने इस पुस्तक में ईश्वर, जीव और प्रकृति के विषय में वेद क्या कह बतलाया है। विषय कठिन है, परन्तु इसे सरल और रोचक बनाने का किया है।

इस ग्रन्थ के लेखन में पू० स्वामी श्री वेदानन्दजी के ग्रन्थों का सहयोग है। पं० श्री सत्यव्रत जी सिद्धान्तालंकार का तो मेरे ऊपर बहुत प्रभाव है, मेरे गुरु है। पूज्य स्वामी श्री जगदीश्वरानन्द जी सरस्वती के विषय में क्या वह आयु में मुझसे बहुत कम हैं पर आश्रम और ज्ञान में बहुत अधिक। मेरा भी ग्रन्थ प्रकाशित होता है, वह प्रभु की दया और पू० स्वामीजी की शुभका परिश्रम, उसे ठीक रूप देना या परिमार्जन करना और विषय को सरल ब सब उनका किया है। वे तो मेरा पुस्तक पर नाम रखवा देते है, सारा मार्ग उनका होता है उनका धन्यवाद करते हुए संकोच होता है। पर धन्यवाद क और श्री विजयकुमार जी सञ्चालक गोविन्दराम हासानन्द ने भी मेरी पुस्तकें प्रकाशित कर जो मुझपर कृपा है, उसके लिए उनका धन्यवाद है। में प्रभु का धन्यवाद है।

सुरेशचन्द्र वेदालं
एम० ए०

१७५ जाफरा बाजार
गोरखपुर
२७-७-८५

विषय-सूची

क्रम | पृष्ठ

(ईश्वर का वैदिक स्वरूप)

खाता है वह जीव है और जो नहीं खाता जीव को फल खाते हुए अर्थात् इस जगत् के कर्म करते हुए देखता है वह ईश्वर है। ईश्वर देखता है, अतः वह अच्छे या बुरे कर्म के अनुसार दण्ड देता है। ईश्वर पर दुःख और अज्ञान का अध्यारोप नहीं किया जा सकता। किसी कवि ने लिखा है—

> खिलाता है, खाता नहीं वह खुदा है,
> पिलाता है, पीता नहीं वह खुदा है,
> चलाता है, चलता नहीं वह खुदा है,
> हिलाता है, हिलता नहीं वह खुदा है।।

वेद भी यह रहा है। (अनश्नन् अन्योऽभि चाकशीति) ईश्वर इस सृष्टि का अध्य[illegible] है। अब इस विषय का अधिक विस्तार न करते हुए इतना ही कहना पर्याप्त है कि हमने इस पुस्तक में ईश्वर, जीव और प्रकृति के विषय मे वेद क्या कहता है बतलाया है। विषय कठिन है, परन्तु इसे सरल और रोचक बनाने का प्रयत्न किया है।

इस ग्रन्थ के लेखन में पू० स्वामी श्री वेदानन्दजी के ग्रन्थो का सहयोग लिया है। पं० श्री सत्यव्रत जी सिद्धान्तालंकार का तो मेरे ऊपर बहुत प्रभाव है, वे तो मेरे गुरु है। पूज्य स्वामी श्री जगदीश्वरानन्द जी सरस्वती के विषय मे क्या कहूं वह आयु मे मुझसे बहुत कम हैं पर आश्रम और ज्ञान मे बहुत अधिक। मेरा जो भी ग्रन्थ प्रकाशित होता है, वह प्रभु की दया और पू० स्वामीजी की शुभकामना, परिश्रम, उसे ठीक रूप देना या परिमार्जन करना और विषय को सरल बनाना सब उनका किया है। वे तो मेरा पुस्तक पर नाम रखवा देते है, सारा मार्गदर्शन उनका होता है उनका धन्यवाद करते हुए सकोच होता है। पर धन्यवाद करूँगा और श्री विजयकुमार जी सञ्चालक गोविन्दराम हासानन्द ने भी मेरी अनेक पुस्तकें प्रकाशित कर जो मुझपर कृपा है, उसके लिए उनका धन्यवाद है। अन्त मे प्रभु का धन्यवाद है।

१७५ जाफरा बाजार
गोरखपुर
२७-७-८५

सुरेशचन्द्र वेदालंकार
एम० ए०

विषय-सूची

खाता है वह जीव है और जो नहीं खाता जीव को फल खाते हुए अर्थात् इस तरह के कर्म करते हुए देखता है वह ईश्वर है। ईश्वर देखता है, तब वह अच्छे व बुरे कर्म के अनुसार दण्ड देता है। ईश्वर पर दुःख और अज्ञान का आरोप नहीं किया जा सकता। किसी कवि ने लिखा है—

खिलाता है, खाता नहीं वह खुदा है,
पिलाता है, पीता नहीं वह खुदा है,
थमाता है, थमता नहीं वह खुदा है,
हिलाता है, हिलता नहीं वह खुदा है॥

वेद भी कह रहा है। (अनश्नन् अन्योऽभिचाकशीति) ईश्वर इस सृष्टि का द्रष्टा है। अब इस विषय का अधिक विस्तार न करते हुए इतना ही कहना पर्याप्त है कि हमने इस पुस्तक में ईश्वर, जीव और प्रकृति के विषय में वेद क्या कहता है, बतलाया है। विषय कठिन है, परन्तु इसे सरल और रोचक बनाने का प्रयत्न किया है।

इस ग्रन्थ के लेखन में पू० स्वामी श्री वेदानन्दजी के ग्रन्थों का सहयोग लिया है। प० श्री सत्यव्रत जी सिद्धान्तालंकार का तो मेरे ऊपर बहुत प्रभाव है, वे तो मेरे गुरु हैं। पूज्य स्वामी श्री जगदीश्वरानन्द जी सरस्वती के विषय में क्या कहूँ वह आयु में मुझसे बहुत कम हैं पर साधना और ज्ञान में बहुत अधिक। मेरा जो भी ग्रन्थ प्रकाशित होता है, वह प्रभु की दया और पू० स्वामीजी की शुभकामना, परिश्रम, उसे ठीक रूप देना या परिमार्जन करना और विषय को सरल बनाना सब उनका किया है। वे तो मेरा पुस्तक पर नाम रखवा देते हैं, सारा मार्गदर्शन उनका होता है उनका धन्यवाद करते हुए सकोच होता है। पर धन्यवाद करूँगा और श्री विजयकुमार जी सञ्चालक गोविन्दराम हासानन्द ने भी मेरी अनेक पुस्तकें प्रकाशित कर जो मुझपर कृपा है, उसके लिए उनका धन्यवाद है। अन्त में प्रभु का धन्यवाद है।

१७५ जाफरा बाजार
गोरखपुर
२७-७-८५

सुरेशचन्द्र वेदालंकार
एम० ए०

विषय-सूची

पृष्ठ

(ईश्वर का वैदिक स्वरूप)

विषय-सूची

खाता है वह जीव है और जो नहीं खाता जीव को फल खाते हुए अर्थात् इस जगत् के कर्म करते हुए देखता है वह ईश्वर है। ईश्वर देखता है, अत: वह अच्छे या बुरे कर्म के अनुसार दण्ड देता है। ईश्वर पर दु:ख और अज्ञान का अध्यारोप नहीं किया जा सकता। किसी कवि ने लिखा है—

खिलाता है, खाता नहीं वह खुदा है,
पिलाता है, पीता नहीं वह खुदा है,
चलाता है, चलता नहीं वह खुदा है,
हिलाता है, हिलता नहीं वह खुदा है॥

वेद भी कह रहा है। (अनश्नन् अन्योऽभि चाकशीति) ईश्वर इस सृष्टि का अध्यक्ष है। अब इस विषय का अधिक विस्तार न करते हुए इतना ही कहना पर्याप्त है कि हमने इस पुस्तक में ईश्वर, जीव और प्रकृति के विषय में वेद क्या कहता है, बतलाया है। विषय कठिन है, परन्तु इसे सरल और रोचक बनाने का प्रयत्न किया है।

इस ग्रन्थ के लेखन में पू० स्वामी श्री वेदानन्दजी के ग्रन्थों का सहयोग लिया है। प० श्री सत्यव्रत जी सिद्धान्तालंकार का तो मेरे ऊपर बहुत प्रभाव है, वे तो मेरे गुरु हैं। पूज्य स्वामी श्री जगदीश्वरानन्द जी सरस्वती के विषय में क्या कहूँ वह आयु में मुझसे बहुत कम हैं पर आश्रम और ज्ञान में बहुत अधिक। मेरा जो भी ग्रन्थ प्रकाशित होता है, वह प्रभु की दया और पू० स्वामीजी की शुभकामना, परिश्रम, उसे ठीक रूप देना या परिमार्जन करना और विषय को सरल बनाना सब उनका किया है। वे तो मेरा पुस्तक पर नाम रखवा देते हैं, सारा मार्गदर्शन उनका होता है उनका धन्यवाद करते हुए संकोच होता है। पर धन्यवाद करूँगा और श्री विजयकुमार जी सञ्चालक गोविन्दराम हासानन्द ने भी मेरी अनेक पुस्तकें प्रकाशित कर जो मुझपर कृपा है, उसके लिए उनका धन्यवाद है। अन्त में प्रभु का धन्यवाद है।

१७५ जाफरा बाजार
गोरखपुर
२७-७-८५

सुरेशचन्द्र वेदालंकार
एम० ए०

विषय-सूची

के कर्म करते हुए देखता है वह ईश्वर है। ईश्वर देखता है, अत वह अच्छे या
बुरे कर्म के अनुसार दण्ड देता है। ईश्वर पर दु ख और अज्ञान का अध्यारोप नहीं
किया जा सकता। किसी कवि ने लिखा है—

खिलाता है, खाता नही वह खुदा है,
पिलाता है, पीता नही वह खुदा है,
चलाता है, चलता नही वह खुदा है,
हिलाता है, हिलता नही वह खुदा है॥

वेद भी कह रहा है। (**अनश्नन् अन्योऽभि चाकशीति**) ईश्वर इस सृष्टि का अध्यक्ष
है। अब इस विषय का अधिक विस्तार न करते हुए इतना ही कहना पर्याप्त है कि
हमने इस पुस्तक मे ईश्वर, जीव और प्रकृति के विषय मे वेद क्या कहता है
बतलाया है। विषय कठिन है, परन्तु इसे सरल और रोचक बनाने का प्रयत्न
किया है।

इस ग्रन्थ के लेखन मे पू० स्वामी श्री वेदानन्दजी के ग्रन्थो का सहयोग लि
है। प० श्री सत्यव्रत जी सिद्धान्तालकार का तो मेरे ऊपर बहुत प्रभाव है, वे
मेरे गुरु है। पूज्य स्वामी श्री जगदीश्वरानन्द जी सरस्वती के विषय मे क्या
वह आयु मे मुझसे बहुत कम हैं पर आश्रम और ज्ञान मे बहुत अधिक। मेरा
भी ग्रन्थ प्रकाशित होता है, वह प्रभु की दया और पू० स्वामीजी की शुभकामन
परिश्रम, उसे ठीक रूप देना या परिमार्जन करना और विषय को सरल बना
सब उनका किया है। वे तो मेरा पुस्तक पर नाम रखवा देते है, सारा मार्गदर्श
उनका होता है उनका धन्यवाद करते हुए सकोच होता है। पर धन्यवाद कर्
और श्री विजयकुमार जी सञ्चालक गोविन्दराम हासानन्द ने भी मेरी अने
पुस्तकें प्रकाशित कर जो मुझपर कृपा है, उसके लिए उनका धन्यवाद है। अ
मे प्रभु का धन्यवाद है।

१७५ जाफरा बाजार
गोरखपुर
२७-७-८५

सुरेशचन्द्र वेदालंक
एम० ए०

विषय-सूची

खाता है वह जीव है और जो नहीं खाता जीव को फल खाते हुए अर्थात् इस प्रकार के कर्म करते हुए देखता है वह ईश्वर है। ईश्वर देखता है, अतः वह अच्छे या बुरे कर्म के अनुसार दण्ड देता है। ईश्वर पर दुःख और अज्ञान का अध्यारोप नहीं किया जा सकता। किसी कवि ने लिखा है—

खिलाता है, खाता नहीं वह खुदा है,
पिलाता है, पीता नहीं वह खुदा है,
चलाता है, चलता नहीं वह खुदा है,
हिलाता है, हिलता नहीं वह खुदा है॥

वेद भी कह रहा है। (अनश्नन् अन्योऽभि चाकशीति) ईश्वर इस सृष्टि का अध्यक्ष है। अब इस विषय का अधिक विस्तार न करते हुए इतना ही कहना पर्याप्त है कि हमने इस पुस्तक में ईश्वर, जीव और प्रकृति के विषय में वेद क्या कहता है बतलाया है। विषय कठिन है, परन्तु इसे सरल और रोचक बनाने का प्रयत्न किया है।

इस ग्रन्थ के लेखन में पू० स्वामी श्री वेदानन्दजी के ग्रन्थों का सहयोग लिया है। प० श्री सत्यव्रत जी सिद्धान्तालंकार का तो मेरे ऊपर बहुत प्रभाव है, वे तो मेरे गुरु हैं। पूज्य स्वामी श्री जगदीश्वरानन्द जी सरस्वती के विषय में क्या कहूँ वह आयु में मुझसे बहुत कम हैं पर आश्रम और ज्ञान में बहुत अधिक। मेरा जो भी ग्रन्थ प्रकाशित होता है, वह प्रभु की दया और पू० स्वामीजी की शुभकामना, परिश्रम, उसे ठीक रूप देना या परिमार्जन करना और विषय को सरल बनाना सब उनका किया है। वे तो मेरा पुस्तक पर नाम रखवा देते हैं, सारा मार्गदर्शन उनका होता है उनका धन्यवाद करते हुए सकोच होता है। पर धन्यवाद करूँगा और श्री विजयकुमार जी सञ्चालक गोविन्दराम हासानन्द ने भी मेरी अनेक पुस्तकें प्रकाशित कर जो मुझपर कृपा है, उसके लिए उनका धन्यवाद है। अन्त में प्रभु का धन्यवाद है।

१७५ आफरा बाजार
गोरखपुर
२७-७-८५

सुरेशचन्द्र वेदालंकार
एम० ए०

ईश्वर का वैदिक स्वरूप

ईश्वर एक और केवल एक है

केनोपनिषद् में शिष्य और आचार्य के प्रश्नोत्तर के रूप में ईश्वरविषयक विवेचन किया गया है। वहाँ लिखा है, चक्षु उसे देख नहीं सकती, वाणी उसका वर्णन नहीं कर सकती, मन उसका अनुभव नहीं कर सकता। उसका शिष्यों को उपदेश कैसे दिया जाए यह भी हम नहीं जानते, न समझ पाते हैं। फिर भी जिन प्राचीन पुरुषों ने उसके विषय में शिक्षा दी है, उनसे सुना है कि ब्रह्म विदित से भी अन्य है, अविदित से भी अन्य है। 'विदित' वह है जिसे हम जानते हैं, उसे हम नहीं जानते अत वह विदित से अन्य है। 'अविदित' वह है जिसे हम नहीं जानते—उसे हम बिल्कुल नहीं जानते ऐसा भी नहीं है, इस विशाल संसार से उसका आभास तो नास्तिक-से-नास्तिक को भी हो जाता है, अत. वह अविदित से भी अन्य है। आगे आचार्य कहते हैं जो वचन के द्वारा प्रकाश नहीं पाता, जिसने वाणी प्रकट होती है, उसी को तू 'ब्रह्म' जान। जो मन से मनन नहीं करता परन्तु जिसके द्वारा मन मनन करता है उसी को तू ब्रह्म जान।

जो चक्षु से नहीं देखता जिसके द्वारा चक्षु देखती हैं, उसी को तू ब्रह्म जान।

जो श्रोत्र से नहीं सुनता जिसके द्वारा श्रोत्र सुनते हैं, उसी को तू ब्रह्म जान।

जो प्राण वायु में साँस नहीं लेता, जिसमे प्राण प्राणित हो रहा है उसी को तू ब्रह्म जान।

आइए, वेद में ईश्वर का जो स्वरूप प्रदर्शित है उसको जानने का प्रयत्न करें। वास्तव में ईश्वर के स्वरूप को समझना बहुत कठिन है। वेद ने उस प्रभु के स्वरूप का वर्णन करते हुए बतलाया है कि वह प्रभु एक है। वह सब जगत् का स्वामी है।

ईश्वर का वैदिक स्वरूप

ईश्वर एक और केवल एक है

पनिषद् में शिष्य और आचार्य के प्रश्नोत्तर के रूप में ईश्वरविषयक
किया गया है। वहाँ लिखा है, चक्षु उसे देख नहीं सकती, वाणी उसका
ीं कर सकती, मन उसका अनुभव नहीं कर सकता। उसका शिष्यों को
से दिया जाए यह भी हम नहीं जानते, न समझ पाते हैं। फिर भी जिन
रुषों ने उसके विषय में शिक्षा दी है, उनसे सुना है कि ब्रह्म विदित से भी
अविदित से भी अन्य है। 'विदित' वह है जिसे हम जानते हैं, उसे हम
ते अतः वह विदित से अन्य है। 'अविदित' वह है जिसे हम नहीं जानते—
बिल्कुल नहीं जानते ऐसा भी नहीं है, इस विशाल संसार से उसका आभास
तक-से-नास्तिक को भी हो जाता है, अत: वह अविदित से भी अन्य है।
चार्य कहते हैं जो वचन के द्वारा प्रकाश नहीं पाता, जिससे वाणी प्रकट
उसी को तू 'ब्रह्म' जान। जो मन से मनन नहीं करता परन्तु जिसके द्वारा
न करता है उसी को तू ब्रह्म जान।

चक्षु से नहीं देखता जिसके द्वारा चक्षु देखती हैं, उसी को तू ब्रह्म जान।
श्रोत्र से नहीं सुनता जिसके द्वारा श्रोत्र सुनते हैं, उसी को तू ब्रह्म जान।
प्राण वायु से साँस नहीं लेता, जिससे प्राण प्राणित हो रहा है उसी को तू
न।

ए, वेद में ईश्वर का जो स्वरूप प्रदर्शित है उसको जानने का प्रयत्न करें।
में ईश्वर के स्वरूप को समझना बहुत कठिन है। वेद ने उस प्रभु के
का वर्णन करते हुए बतलाया है कि वह प्रभु एक है। वह सब जगत् का
है।

..........।को अपने अन्दर धारण करने से उसे हिरण्यगर्भ कहते हैं। समस्त चराचर जगत् को गति देने से वायु, न्यायकारी होने से अर्यमा, बड़ा पराक्रमी होने से उरुक्रम, प्रकाशकर्ता होने से सूर्य, आगे ले जानेवाला होने से अग्नि आदि नामों से हम उसे पुकारते हैं। यजुर्वेद ३२।१ में कहा गया है—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥

वही पूर्णपुरुष अग्निस्वरूप, वही अखण्डनीय, वही गति देनेवाला, निश्चय करके वही सुख देनेवाला, वही पवित्र, वही सबसे बड़ा, वही सर्वव्यापक और वही सब जगत् का पालनेवाला है अर्थात् इन कर्मों के कारण अग्नि आदि प्रभु के नाम हैं।

परमेश्वर के गुणवाचक नामों में हम उसे 'खम्' सर्वव्यापक होने से कहते हैं। अविनाशी होने से वह अक्षर, सबका स्वामी होने से ईश्वर, स्वामियों का स्वामी होने से परमेश्वर, समस्त विश्व की आत्मा होने से विश्वात्मा, सब आत्माओं का आत्मा होने से परमात्मा, सबसे बड़ा होने से ब्रह्म और देवों का देव होने से वह महादेव कहलाता है।

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के १६४वें सूक्त के ४६वें मन्त्र में इसीलिए कहा है—'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' एक ही सत्यस्वरूप को ज्ञानीजन बहुत प्रकार से, अनेक नामों से पुकारते हैं।

सचमुच वह प्रभु अकेले ही विश्व का संचालन कर रहा है। आनन्द स्वामीजी महाराज उसके विषय में लिखते हैं "अहा! इस कथा के जिस नेता ने इस सोई प्रकृति को जन्म दिया, एकरूपा को अनेकरूपा बना दिया उसी प्रकृति को विकृत करके अनेक सूर्य, अनेक नक्षत्र, अनेक पृथिवियाँ, अनेक समुद्र और अनेक मण्डल तथा लोक बना दिये उसकी कथा कितनी मनोरञ्जक है!" सचमुच यदि हम रात में आकाश में अपनी नजर दौड़ाएँ तो इसमें जो आकाशगंगा दिखाई देती है, इसी में डेढ़ अरब सितारे चमक रहे हैं, इस समय तक दो अरब सौरमण्डल देखे जा चुके हैं और एक सौरमण्डल में वैसे ही सूर्य, चन्द्र, पृथिवी तथा तारामण्डल हैं, जैसे हमारे सौरमण्डल में। आकाशगंगा का व्यास जानने के लिए १,७६३ के आगे १६ बिन्दु लगाने होंगे, जिनकी गणना नहीं हो सकती। प्रति सैकिण्ड प्रकाश की गति एक लाख छियासी हजार मील है और कुछ नक्षत्र तो इतने दूर हैं कि उनका

प्रकाश जिनमें से कई लाख वर्ष से अभी तक भी पृथिवी तक नहीं पहुँच पाता है। कितनी बड़ी है यह सृष्टि! ये सब सौरमण्डल एक बहुत बड़े सौरमण्डल के इर्द-गिर्द घूम रहे हैं और वह महासूर्य परमेश्वर के अपने संकेत में बंधा सभी सौरमण्डलों को व्यवस्था में रख रहा है। वेद कहता है—

> विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्।
> सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः॥
>
> —ऋ० १०।८१।३

जिस प्रभु के नेत्र सर्वत्र हैं, जिसके मुख सर्वत्र हैं, जिसके बाहु सर्वत्र कार्य कर रहे हैं वह पुण्य-पापरूप बाहु के द्वारा उत्पन्न प्राणशील पक्षों से जीवों को गति देता है। वही दिव्य गुणयुक्त प्रभु द्युलोक और पृथिवीलोक को उत्पन्न करता है अर्थात् एक ही देव इस सम्पूर्ण चराचर जगत् का उत्पन्नकर्त्ता, नियन्ता और सञ्चालक है। वह सबको कर्मानुसार फल देता है और उसकी शक्तियाँ सर्वत्र समान हैं।

> य एक इद्विदयते वसु मर्ताय दाशुषे।
> ईशानो अप्रतिष्कुत इन्द्रो अङ्ग॥
>
> —ऋ० १।८४।७

(दाशुषे मर्ताय) दाता मनुष्य के लिए (यः एकः इत्) जो अकेला ही (वसु विदयते) धन देता है वह (अप्रतिष्कुतः) अद्वितीय शक्तिशाली (ईशानः) ईश्वर (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् प्रभु ही (अङ्ग) निश्चय से है।

> स रायस्खामुप सृजा गृणानः पुरुश्चन्द्रस्य त्वमिन्द्र वस्वः।
> पतिर्बभूथासमो जनानामेको विश्वस्य भुवनस्य राजा॥
>
> —ऋ० ६।३६।४

अर्थात् हे प्रभो! वह तू प्रशंसित होता हुआ अत्यन्त आह्लादकारक, निवासकधन की धाराएँ हमारे ऊपर छोड़ दे। तू संसार का अनुपम पति है और सब भुवनों का एक ही स्वामी है।

सम्पूर्ण जगत् का आधार एक परमात्मा ही है। वही प्रशंसा और नमस्कार करने योग्य है। वेद के ज्ञान द्वारा उसे प्राप्त करके मोक्ष के आनन्द का भोग करना चाहिए।

> दिव्यो गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्यो विक्ष्वीड्यः।
> तं त्वा यौमि ब्रह्मणा दिव्य देव नमस्ते अस्तु दिवि ते सधस्थम्॥
>
> —अ० २।२।१

जो दिव्यगन्धर्व अर्थात् भुवनों का धारण करनेवाला है, जो भुवनो का एक ही स्वामी है वही प्रजाओं में नमस्कार करने योग्य है, प्रशंसा करने योग्य है। हे अद्भुत ईश्वर! उस तुझको मैं वेद द्वारा प्राप्त होता हूँ। तुझे नमस्कार हो। तेरा वास तेरे अपने स्वरूप में है।

वास्तव मे वह ईश्वर एक ही है। अज्ञान मे पडकर मनुष्य दूसरे देवी-देवताओ की कल्पना करके अन्यो को देवता या ईश्वर मानकर पूजा करने लगता है।

कबीर ने कहा है—

दुई जगदीश कहाँ से आया ?

भुवनस्य यस्पतिरेक एव—संसार का एक ही स्वामी है।

अथर्ववेद के एक अन्य मन्त्र में कहा है—

तमिदं निगतं सहः स एष एक एकवृदेक एव।

—अ० १३।४ (२)। २०

(इदं सहः) यह सामर्थ्य (स निगतं) उस परमात्मा को प्राप्त है। (स. एव. एकः) वह एक ही है (एकवृत्) अकेला वर्तमान (एक एव) एक ही है।

सब सामर्थ्य परमात्मा मे है और वह एक एव अद्वितीय है।

कीर्तिश्च यशश्चाम्भश्च नभश्च ब्राह्मणवर्चसं चान्नं चान्नाद्यं च।
य एतं देवमेकवृतं वेद ॥

—अ० १३।४ (२)। १४,१५

अर्थात् कीर्ति, यश, पराक्रम और स्थान, ज्ञान का तेज, अन्न तथा खान-पान के पदार्थ उसको प्राप्त होते हैं जो इस देव प्रभु को एक और व्यापक जानता है।

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते।
न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते।
नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते।
य एतं देवमेकवृतं वेद ॥

—अ० १३।४ (२) १६-१८

वह परमात्मा न ही द्वितीय, न ही तृतीय, न ही चतुर्थ, न ही पञ्चम, न ही षष्ठ, न ही सप्तम, न ही अष्टम, न ही नवम, न ही दशम कहा जाता है। जो इस देव को एक मानता है, उसको यह प्राप्त होता है अर्थात् वह अकेला एक ही वर्तमान है।

आजकल देश में—परदेश में अनेक देवों की उपासना और भक्ति की जा रही है। परन्तु वास्तव में अग्नि, वायु, इन्द्र, आदित्य, चन्द्रमा आदि सब एक ही परमात्मा के नाम हैं। हम अज्ञानवश उन्हें अलग-अलग देव मानकर उनकी अलग-अलग उपासना करते हैं। उन देवों के अतिरिक्त आज मनुष्यों में भी देव या परमेश्वर बनते जाते हैं। अज्ञान के कारण राम और कृष्ण को परमेश्वर का अवतार मानकर उपासना की ही जाती थी, आजकल तो देवताओं या ईश्वरों की बाढ़-सी आ गई है। कहीं साईं बाबा है तो कहीं जय गुरुदेव हैं। कहीं बालयोगेश्वर हैं तो कहीं चौपटानन्द हैं। सब ईश्वर बनकर अपनी उपासना करवाना चाहते हैं। परन्तु विचारणीय यह है कि क्या वैदिक स्वरूप के अनुसार ये लोग ईश्वर कहला सकते हैं? इन ईश्वरों के अस्वस्थ होने, डरने, थकने, एक स्थान पर रहने के कारण ईश्वर के सदृश मानना सम्भव नहीं लगता। वेद जोरदार शब्दों में कहता है, वह दो नहीं, तीन नहीं दस नहीं। वह एक है और निश्चय से एक है।

स सर्वस्मै वि पश्यति यच्च प्राणति यच्च न।
य एतं देवमेकवृतं वेद॥

—अ० १३।४ (२) १६

वह सबके लिए विशेष रीति से देखता है, जो प्राण लेता है और जो नहीं। जो इसको अकेला एक वर्तमान जानता है उसको यह प्राप्त होता है।

तमिदं निगतं सहः स एष एक एकवृदेक एव।
य एतं देवमेकवृतं वेद॥

—अ० १३।४ (२) २०

सब सामर्थ्य उसको ही प्राप्त है। वह (प्रभु) एक अकेला ही है। जो इसको एक ही मानता है उसको सामर्थ्य प्राप्त होता है।

जो व्यक्ति अनेक देवों की उपासना न करके एक प्रभु की उपासना करता है, उसको अनेक वस्तुएँ मिलती हैं। कौन-कौन-सी वस्तुएँ मिलती हैं? वेद कहता है—

ब्रह्म च तपश्च कीर्तिश्च यशश्चाम्भश्च नभश्च,
ब्राह्मणवर्चसं चान्नं चान्नाद्यं च।
भूतं च भव्यं च श्रद्धा च रुचिश्च स्वर्गश्च स्वधा च,
य एतं देवमेकवृतं वेद॥

—अ० १३।४ (३) २२-२४

ज्ञान और तप, कीर्ति, यश, सामर्थ्य, स्थान, ज्ञान का तेज, अन्न और खाद्य, भूत भविष्य के सुख, श्रद्धा, रुचि, स्वर्ग और अपनी धारणशक्ति उसको प्राप्त होती है, जो इस प्रभु को अकेला और सर्वव्यापक जानता है।

सर्वे अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति।
य एतं देवमेकवृत वेद ॥

—अ० १३।४।(२) २१

इसमें सब देव एकरूप हो जाते हैं। जो इस प्रकार इस अकेले एक देव (ईश्वर) को जानता है, वह ज्ञानी होता है।

अग्नि आदि नाम प्रभु के ही हैं, उसी प्रभु के जो एक है—केवल एक है। ऋग्वेद में कहा गया है—

त्वमग्ने रुद्रो असुरो महो दिवस्त्वं शर्धो मारुतं पृक्ष ईशिषे।
त्वं वातैररुणैर्यासि शङ्गयस्त्वं पूषा विधतः पासि नु त्मना ॥

—ऋ० २।१।६

हे ज्ञानस्वरूप! तू द्युलोक का बड़ा प्राणदाता रुद्र है, तू मरुतों का बल है और अन्न का स्वामी भी तू ही है। तू सुखमय प्रेरक शक्तियों के साथ प्राप्त होता है, तू पूषा अपनी शक्ति से ही उपासकों का पालन करता है।

उस एक ही देव को द्रविणोदा, अग्नि आदि नामों से वर्णित करते हुए ऋग्वेद कहता है—

हे ईश्वर! तू ही पर्याप्त पुरुषार्थ करनेवाले के लिए धन देनेवाला है, तू ही रत्नों का धारणकर्ता सवितादेव है। हे मनुष्यों के पालक! तू ही भग होकर धन का स्वामी होता है, जो घर में तेरी उपासना करता है उसका तू रक्षक होता है।

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥

ऋ० १।१६४।४६

एक ही सद्वस्तु को इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य, सुपर्ण, यम, मातरिश्वा आदि नाम देते हैं अर्थात् इन नामों से उस एक ही वस्तु का वर्णन होता है।

य एक इत्तमु ष्टुहि कृष्टीनां विचर्षणिः।
पतिर्जज्ञे वृषक्रतुः ॥

—ऋ० ६।४५।१६

जो अकेला ही बलवान् कर्म करनेवाला है और मनुष्यों का विशेष इष्ट देव है, उसी की स्तुति कर।

> य एक इद्धव्यश्चर्षणीनामिन्द्रं तं गीर्भिरभ्यर्च आभिः।
> यः पत्यते वृषभो वृष्ण्यावान्त्सत्यः सत्वा पुरुमायः सहस्वान्॥
>
> —ऋ० ६।२२।१

जो बलवान्, शक्तिशाली, तीनों कालों में एक जैसा सत्य, सत्ववान्, महाज्ञानी और विजयी शक्ति से युक्त, सबको आश्रय देता है, वह अकेला ही मनुष्यों का पूजनीय है। उसकी इन स्तोत्रों से पूजा कर।

इसी प्रभु को वेद पिता, जनक और भाई कहता है।

> स नः पिता जनिता स उत बन्धुर्धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
> यो देवानां नामध एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्ति सर्वा॥
>
> —अ० २।१।३

वही ईश्वर हमारा पालक और उत्पादक तथा बन्धु है, वही सम्पूर्ण भुवनों को और स्थानों को जानता है तथा जो ईश्वर अकेला ही देवों के नाम धारण करनेवाला है उसी पूछने योग्य ईश्वर के प्रति सब अन्य भुवन मिलकर जाते हैं।

वह प्रभु सबका पिता, माता, जनक और भाई है। सम्पूर्ण देवों के सभी नाम उसके लिए ही प्रयुक्त किये जाते हैं।

एक ही देव संसार का उत्पादक, पालक, संचालक और नाश करनेवाला है। वह सदा हमारे साथ रहता है। उस महान् स्रष्टा से अपना नाता जोड़कर ही हम उसके निर्माण-कार्य में हाथ बँटा सकते हैं। पृथिवी का कण-कण उसी निर्माता की अपूर्व योजना की गवाही देता है। हमारा जीवन भी तभी सच्चा मानव-जीवन होगा जब हम उस स्रष्टा द्वारा निर्मित इस पृथिवी के सुन्दर रूप को और भी सुन्दर बनाएँगे, मनुष्यता को ईश्वरत्व के पास ले जाएँगे। मनुष्य के भीतर एक ऐसा रूप बसा हुआ है जो बिल्कुल निष्कलंक और सुन्दर है, जो न तो कभी पैदा हुआ है और न कभी मरेगा, न ही उसे कलंकित किया जा सकता है और न ही कोई उसका रूप बदल सकता है। यही ईश्वरीय अंश या भावना है जो मानव-जीवन के निर्माण का सच्चा रूप है। आइए, हम उसका ध्यान करें।

ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप है

इस संसार में ईश्वर, जीव और प्रकृति ये तीन वस्तुएँ अनादि और अनन्त हैं। इनमें से जड़ प्रकृति केवल 'सत्' है अर्थात् उसकी सत्ता तो है पर वह चेतन नहीं है। चेतन न होने से उसे न तो सुख मिल सकता है और न दुःख। इसलिए प्रकृति के आनन्द या सुख अनुभव करने का प्रश्न ही नहीं। वह जड़ है। जड़वस्तु सुख-दुःख दोनों का अनुभव नहीं कर सकती। प्रकृति के बाद 'जीव' का नम्बर आता है। 'जीव' की सत्ता भी है और वह चेतन भी है। चेतन होने से उसे सुख या आनन्द भी होता है और दुःख भी होता है पर वह दुःख नहीं चाहता, उसे सुख की—आनन्द की ही कामना रहती है। अब उस आनन्द को वह कहाँ से प्राप्त करे? प्रकृति में आनन्द नहीं। वह तो जड़ है।

इन दो शक्तियों के अतिरिक्त तीसरी शक्ति है 'ईश्वर'। ईश्वर की सत्ता है अतः वह 'सत्' है। चेतन होने से उसे हम 'चित्' कहते हैं। और क्योंकि वह आनन्द से परिपूर्ण है इसलिए हम उसे 'आनन्द' भी कहते हैं। वह भगवान् सच्चिदानन्द-स्वरूप है।

अब स्थिति यह है कि प्रकृति को जड़ होने से न तो सुख का अनुभव होगा और न दुःख का, अतः उसे आनन्द की आवश्यकता ही नहीं। ईश्वर आनन्द का भण्डार है अतः उसे भी आनन्द खोजने बाहर नहीं जाना है। रहा जीव! जीव को सुख भी होता है, दुःख भी। परन्तु वह सुख चाहता है, आनन्द चाहता है और उसकी तलाश में भटकता है। वह खोजता रहता है कि किस वस्तु में रस है, किस वस्तु में आनन्द है। संसार की जिन वस्तुओं में रस दीखता है, उन्हीं से चिपट जाता है। परन्तु संसार की वस्तुएँ उसे कुछ देर तक ही रस देती हैं। उनका रस समाप्त होने के बाद फिर उसे पहले की तरह रस की खोज करनी पड़ती है। उदाहरण के लिए हम एक चींटे का उदाहरण ले सकते हैं। चींटा कितना चञ्चल होता है, लगातार चला करता है—इधर से उधर। एक व्यक्ति उसको इस प्रकार भटकते देख गुड़ की एक छोटी डली उसके सामने फेंक देता है और वह उससे चिपट जाता है। अब वह उसमें बिल्कुल एकाग्र हो जाता है। परन्तु जब वह उस

ऋषि ने नारदजी को 'भूमा' रूप की व्याख्या करते हुए बताया, "जिस परम-अवस्था में आत्मा अन्य वस्तु को न देखता है, न सुनता है, न जानता है वही [भूम]ा है। जहाँ आत्मा अन्य वस्तु को देखता है, सुनता है, जानता है, वही अल्प [है।] जो 'भूमा' है- वह 'अमृत' है, जो अल्प है वह 'मर्त्य' है—मरणधर्मा है। 'भूमा' अपनी ही महिमा में प्रतिष्ठित है। या यह कहें कि वह महिमा में भी [प्रति]ष्ठित नहीं है।"

उपनिषद् ने इस प्रभु के लिए कहा है "रसो वै स" रसों का रस वही है।

अथर्ववेद में कहा है—

अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः।
तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम्।।

[illegible]

अपनी आभा विशेषतः दिखाई देता है। दूसरी ओर अवनि पर दूर-दूर तक
हुए हरे-भरे खेतों में प्रसन्नता और आनन्द की धारा बहती हुई दिखाई देती
कहीं ऊँचे गगनचुम्बी पहाड़ों की मनमयूरी चोटियाँ प्रसन्नता से उचकती दिखाई
है तो कहीं उमगत पड़ी हुई मनमोहिनी रजत की चिकनी धारा-सी नदियाँ
में उछलती-कूदती दिखाई देती हैं। पवन के झकोरों में, पक्षियों के कलरव
भ्रमरों की झंकार में, बादलों के गर्जन में, झरनों की झर-झर में, हरि
संगीत में, मयूरों के नर्तन में क्या आनन्द की भावना नहीं है? इस परिवेश
लिये तरुगण अपने रंगबिरंगे फूलों से उसी के हास्य को प्रकट कर रहे हैं। आ
आनन्द, गुंजों और हास्य की मृदु लहरों से क्या यह संसार उमड़ नहीं पड़
इसीलिए बृहदारण्यक उपनिषद् में प्रभु के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा
है—

विज्ञानमानन्दं ब्रह्म।

—बृह० ३।९।

ब्रह्म विज्ञानस्वरूप है। ब्रह्म आनन्दस्वरूप है। उसके विषय में तैत्तिरीयोपनि
में कहा है—

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन।

—तै० ब्रह्मानन्दवल्ली (

जो इस आनन्दरूप ब्रह्म को जानता है, उसे सन्ताप नहीं होता।

उपनिषद् ने भगवान् का सुन्दर चित्रण करते हुए लिखा है—

तस्य प्रियमेव शिरः, मोदो दक्षिणः पक्षः।
प्रमोदः उत्तरः पक्षः। आनन्द आत्मा॥

—तै० २

प्रेम उस प्रभु का सिर है। मोद उसका दायाँ पक्ष है। प्रमोद बायाँ पक्ष है। आन
उसका आत्मा है। जो व्यक्ति परमात्मा के इस स्वरूप को समझ लेता है 'तर
शोकमात्मवित्' वह आत्मा को जाननेवाला सम्पूर्ण दुःखों को पार कर लेता है।

वेद में परमेश्वर को आनन्दमय मानते हुए कहा गया है—

कया नश्चित्र आ भुवदूती सदावृधः सखा।
कया शचिष्ठया वृता॥

—ऋ० ४।३१।

सदा से महान् और आश्चर्यकारक ईश्वर आनन्दमय रक्षण के द्वारा और आनन्द-मय महाशक्ति के द्वारा और बार-बार सृष्टि-रचनादि कर्म के द्वारा हम सबका मित्र होता है।

कस्त्वा सत्यो मदानां मंहिष्ठो मत्सदन्धसः।
दृढा चिदा रुजे वसु ॥

—य० ३६।५

आनन्दवालों में अत्यन्त पूज्य, सज्जन, हितैषी, त्रिकालाबाधित, सत्यस्वरूप और आनन्दस्वरूप परमेश्वर मुझको आनन्दयुक्त करता है। वह दानी परमेश्वर दुःख पानेवाले जीव को दृढ और शीघ्र नष्ट न होनेवाला मोक्षरूप धन देता है।

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

—ऋ० १०।१२१।१

जिसके गर्भ में अनेक तेजस्वी पदार्थ हैं वह परमात्मा सृष्टि के पूर्व था। वह सब बने हुए संसार का एक ही स्वामी प्रसिद्ध है। उसने पृथिवी और इस द्युलोक को भी धारण किया है। उस आनन्दस्वरूप एक देव की ही यज्ञ के द्वारा हम उपासना करें।

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः।
येस्येमा. प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

—ऋ० १०।

ये बर्फ से ढके पर्वत और पृथिवी के साथ समुद्र जिसकी महिमा की प्रशंसा कर रहे हैं और जिसके बाहू दिशा-उपदिशाओं मे रक्षण का कार्य कर रहे हैं, उस आनन्द-स्वरूप परमात्मा की ही उपासना यज्ञ द्वारा हम सबको करनी चाहिए।

इस सूक्त में परमात्मा के लिए 'क' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'क' शब्द के अर्थों मे एक अर्थ आनन्दस्वरूप भी है और इसके साथ 'देवाय' शब्द भी आया है जिसका अर्थ है चाहने योग्य। यह परमात्मा अपने आनन्दमय स्वरूप के कारण सदा चाहने योग्य है। उसकी उपासना हमें आत्मार्पण के द्वारा करनी चाहिए। इस सूक्त में अन्य भी मन्त्र आये हैं जिनमे 'कस्मै देवाय हविषा विधेम'—उस चाहने योग्य आनन्दस्वरूप परमेश्वर की आत्मार्पण द्वारा हमें पूजा करनी चाहिए, यह बात बताई गई है।

अथर्ववेद मे भी प्रभु को आनन्दस्वरूप बतलाया है—

यस्य द्यौरुर्वी पृथिवी च मही यस्याद उर्वन्तरिक्षम्।
यस्यासौ सुरो विततो महित्वा कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

—अ० ४।२।४

जिसके वश मे बड़ा द्युलोक है और बड़ी पृथिवी जिसके अधीन है और इस विस्तृत अन्तरिक्ष को जिसने वश मे किया हुआ है और जिससे फैला हुआ और रचा हुआ यह सूर्य महत्त्व के साथ चमकता है उस आनन्दस्वरूप देवता की हम आत्मार्पण द्वारा पूजा करें।

त्वं ह्यग्ने अग्निना विप्रो विप्रेण सन्त्सता।
सखा सख्या समिध्यसे ॥

—ऋ० ८।४३।१४

हे अग्ने! प्रकाशयुक्त जीव! सचमुच तू प्रकाशस्वरूप, मेधावी=चित्स्वरूप, सत्-स्वरूप, आनन्दमय तथा आनन्दयुक्त स्नेही परमेश्वर से युक्त होकर, अग्रणी, मेधावी=ज्ञानी, सद्गुणविशिष्ट तथा परमात्मा के समान गुणोवाला अर्थात् आनन्दमय होकर शोभित होता है।

तथा स्वामी वेदानन्दजी महाराज ने दूसरा भाव लिखा है—"जिस प्रकार

अग्नि से अग्नि प्रदीप्त की जाती है, जिस प्रकार विद्वान् की सत्संगति से दूसरा मनुष्य भी विद्वान् हो जाता है, जैसा सज्जनों के मेल से दूसरे व्यक्ति भी सज्जन बन जाते हैं उसी प्रकार परमात्मा की सत्संगति से जीवात्मा में ज्ञान, आनन्द आदि अनेक उत्तम गुणों का संचार होता है, अतः जीवन में आनन्द के लिए आनन्दस्वरूप का ध्यान आवश्यक है।

मैं आचार्य अभयदेवजी के शब्दों में प्रभु से यही प्रार्थना करूँगा कि "इस सर्व-व्यापी हास्य के स्रोत, हे आनन्द के खजाने! आनन्दमय प्रभो! तेरे अनगिनत दानों में से मैंने आज इस एक हँसी और आनन्द के दान को पहचाना है और अपनाया है। हे दाता! इससे मुझे कभी वियुक्त मत करना। मुझे अयोग्य देख और सब दान भले ही मुझसे छीन लेना परन्तु हे करुणानिधान! इस हँसी के, आनन्द के दान को तो अपने स्मृति-चिह्न के तौर पर ही सही मेरे पास रहने देना। यही माय! एक प्रार्थना है। इस लोक में, परलोक में, जवानी में या बुढ़ापे में, वर्षा में या ग्रीष्म में, दिन में या रात में सदैव ही यह तेरा हास्य या आनन्द का उपहार-पुष्प इस तुच्छ पौधे पर विकसित रहे, कभी भी म्लान न हो। हे प्रभो! कभी भी म्लान न हो।"

किवाड़ बन्द किये और पुनः बाहर जाकर गुरु की सेवा में पहुँच गया परन्तु दूसरा शि
काटे ही ले आया। इस दृष्टान्त का भाव यह है कि प्रभु को सर्वव्यापक मानने
वाला उसे सर्वत्र जानता और वह पापों से बच जाएगा। दूसरा जो प्रभु को ए
देशीय मानकर चलेगा वह पापों से बचने की आवश्यकता अनुभव ही न करे
और सर्वव्यापकता में दूर से ही वह पाप करने से हिचकिचाएगा नहीं। इस
वस्तु एकदेशीय होती है। परमेश्वर को साकार समझते हुए हम उसकी सर्वव्याप
को समाप्त कर देते हैं। यदि वह साकार प्रभु गोरखपुर में रहेगा तो दिल्ली
कानपुर वासी रहेंगे और वहाँ अपराध करने पर भी उसे कोई देखनेवाला
होगा। उस दशा में प्रभु पूर्ण न्यायकारी भी नहीं रह सकेगा। न्यायकारी
होगा जब वह सर्वत्र होगा और सर्वज्ञ तभी होगा जब सर्वव्यापक होगा। स
सर्वव्यापक हो नहीं सकता, अतः प्रभु को निराकार मानना पड़ेगा।

वेद कहता है—

न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद् यशः।
हिरण्यगर्भ इत्येष मा मा हिंसीदित्येषा यस्मान्न जात इत्येषः॥

—य॰

(यस्य) जिसका (महत्) महान् (नाम) प्रसिद्ध (यशः) यश है (तस्य) उस पर
की कोई (प्रतिमा) प्रतिमा=मूर्ति (न अस्ति) नहीं है। (हिरण्यगर्भं इति
हिरण्यगर्भ इत्यादि मन्त्रों द्वारा (मा मा हिंसीत् इति एषा) 'मा मा हिंसी
मन्त्र से और (यस्मात् न जात) 'यस्मात् न जात' इस मन्त्र से उसका
होता है।

एक दूसरे मन्त्र में इसे बहुत पुराना, सबसे पहला देव बतलाया गया
कहा गया है कि वह महान् आकाश में स्थित है और न इसके हाथ हैं और न
और न सिर आदि अवयव हैं अर्थात् यह अशरीरी, निराकार है और सबके
गुप्त अथवा व्याप्त है। शरीररहित होने से यह निरवयव है और इसी का
सबमें व्याप्त है। वह परमेश्वर अव्यक्त है। उसके प्राप्त करने का उल्लेख
हुए यह कहा गया है कि बलवान्, आत्मिक शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति ही इसे
कर सकता है। 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' यह आत्मा बलहीन को प्राप्त
होता। दुर्बलों को आनन्दस्वरूप की प्राप्ति कहाँ? उसके लिए तो दुःख, द
और हीनता ही रहती है।

वेद में कहा है—

स जायत प्रथमः पस्त्यासु महो बुध्ने रजसो अस्य योनौ।
अपादशीर्षा गुहमानो अन्तायोयुवानो वृषभस्य नीळे॥

—ऋ० ४।१।११

प्रथमः पस्त्यासु जायत) वह पहले प्रजाओं में हुआ है (अस्य महः रजस बुध्ने
।) यह इस महान् अन्तरिक्ष के मूल स्थान में होता है। वह (अपादशीर्षा)
सिर आदि के अवयवों से रहित है (अन्ता गुहमानः) अन्दर गुप्त है। वह
(भस्य नीळे) वीर्ययुक्त पुरुष के स्थान में (आ योयुवानः) संघटना का कार्य
ता है। एक अन्य मन्त्र में बतलाया गया है—

सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युत पुरुषादधि।
नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परिजग्रभत्॥

—य० ३२।२

ाप तेजस्वी और (पुरुषात्=पुर्+अयात्) सृष्टि में पूर्ण व्यापक परमात्मा से
वें) सब (निमेषाः) निमेष आदि काल के अवयव (जज्ञिरे) होते हैं। कोई भी
में) इस परमात्मा का (न ऊर्ध्वं) न ऊपर (न तिर्यञ्चं) न तिरछा (न मध्ये)
ध्य भाग में (परिजग्रभत्) पूर्णता से ग्रहण कर सकता है अर्थात् काल में सब
त्पन्न और सब गति उसी तेजस्वी सर्वव्यापक परमात्मा से प्रकट हो रही है।
। परमात्मा का न ऊपर है, न नीचे है, न मध्य है अर्थात् वह निराकार है।

अन्तरिच्छन्ति तं जने रुद्रं परो मनीषया।
...गृभ्णन्ति जिह्वया ससम्॥

तथा नस-नाडी के बन्धन से रहित, अत सूक्ष्मशरीर-रहित है, परम पवि
वह कभी पाप से विद्ध नहीं होता। वह कवि है, क्रान्तदर्शी है, विद्वान् है, वह म
दुष्ट और पापियों का तिरस्कार करनेवाला है, स्वयंसिद्ध, अपने-आप होने
—अनादि है। वह अनादिकाल से पदार्थों को यथार्थरूप में, जो पदार्थ जैसे
चाहिएँ थे, उस रूप में निर्मित करता है, व्यवस्थित करता है।

इस मन्त्र में परमेश्वर को अकायम्=शरीररहित कहा गया है। उसके
हमारे जैसा शरीर नहीं है, वह क्रियावान् है परन्तु कायवान् नहीं है। वह
और शरीर के उपकरणों के बिना ही विश्व का निर्माण, पालन-पोषण और
करता है। सगुण भगवान् के उपासक तुलसीदास ने भगवान् का स्वरूप ब
हुए कहा है—

बिनु पग चलै, सुनै बिनु काना,
कर बिनु करम करै विधि नाना।
आननरहित सकल रस भोगी,
बिनु बाणी बकता बड़ जोगी।
तन बिनु परस नयन बिनु देखा,
ग्रहइ घ्रान बिनु बास असेखा।।

उसे 'अव्रणम्' भी कहा है। जब शरीर ही नहीं तो व्रण का सवाल ही कहाँ
होता है? प्रभु तो अशरीरी है, अत उसके व्रण हो ही नहीं सकते। इस म
'अव्रणम्' के बाद 'अस्नाविरम्' शब्द से उसकी विशेषता कही गई है।
विरम् का अर्थ है प्रभु नस-नाडी के बन्धन से रहित है। जब शरीर ही न
स्नायु आदि शरीर के आधार कहाँ से होंगे?

श्वेताश्वतर उपनिषद् में उसके रूप का बड़ा सुन्दर वर्णन है—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशांगुलम्।।
—श्वेता०

वह पुरुष सहस्रों सिरोंवाला, सहस्रों आँखोंवाला, सहस्रों पाँवोंवाला है। वह
ब्रह्माण्ड को सब तरफ से घेरे हुए है फिर भी उसकी दस अँगुलियाँ दूर
घेरने से तो दसों अंगुलियाँ भर जानी चाहिएँ, परन्तु यह ब्रह्माण्ड उसके

इतना तुच्छ है कि इसे घेरकर भी उसके दोनों हाथों की दसों अंगुलियाँ मानो खाली रह जाती हैं।

अगले मन्त्र में कहा है—

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥
—श्वेता० ३।१६

सब ओर उसके हाथ-पैर हैं, सब ओर आँख, सिर, मुख हैं, सब ओर कान हैं। संसार में सबको घेरकर वह खड़ा है—फिर कहाँ कौन उससे बचकर किधर निकल जाएगा ?

जब यहाँ हाथ, पैर, आँख, कान आदि से युक्त उसे कहा गया है तो वह निराकार कैसे हुआ ? हाथ, पैर, आँख, कान आदि गुण का कार्य उससे हो रहा है। उसके हाथ-पैर आदि वास्तव में हैं नहीं, अत अपनी बात को स्पष्ट करती हुई यह उपनिषद् कहती है—

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं बृहत्॥
—श्वेता० ३।१७

सब इन्द्रियों के गुण उसमें भास रहे हैं, परन्तु सभी इन्द्रियों से वह रहित है। सबका वह प्रभु है, स्वामी है, इसलिए सभी के लिए वह महान् शरण है, आश्रयस्थान है, सहारा है।

उपनिषद् आगे कहती है—

अपाणिपादो जवनो गृहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्॥

(इन्द्रः) सम्पूर्ण ऐश्वर्यों से परिपूर्ण प्रभु (अपात्) निराकार है। (अग्नि.) चेतन जीव (अपात्) निराकार है और (विश्वे देवा अमत्सत) सब इन्द्रियाँ या सूर्य चन्द्रादि देव सुख के साधन हैं। (वरुण इत् इह क्षयत्) सबसे उत्तम भगवान् सर्व व्यापक है (आपः तम् अभ्यनूषत शिश्वरीः इव वत्सम्) सब स्तुतियाँ उसको प्राप्त होती हैं, जिस प्रकार वर्धक शक्तियाँ बच्चे को प्राप्त होती हैं।

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि ईश्वर और जीव दोनों निराकार तो हैं पर ईश्वर सर्वव्यापक है और जीव एकदेशीय।

आइए, अब हम उस निराकार प्रभु का गुणगान करें।

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति।
स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥

अर्थात्—

भूत भविष्यत् वर्तमान का,
जो प्रभु है अन्तर्यामी।
विश्व व्योम-सा व्याप्त हो रहा,
जो त्रिकाल का है स्वामी।
निर्विकार आनन्दकन्द है,
जो कैवल्यरूप सुखधाम।
उस महान् जगदीश्वर को है,
अर्पित मेरा नम्र प्रणाम॥

ईश्वर निर्विकार है

निर्विकार शब्द का अर्थ है, विकार से रहित। विकार का मतलब है जो वस्तु जिस रूप में है, उस वस्तु में परिवर्तन और उस परिवर्तन का भी खराबी की ओर विकृति की ओर जाना विकार है। ईश्वर इस विकार से रहित है, निर्विकार है। प्रभु तो सर्वव्यापक है, अजर, अमर और अभय है, अतः उसमें विकार सम्भव ही नहीं। निर्विकार और निडरता का आपस में सम्बन्ध है। विकार दोष को कहते हैं। दोष कहाँ होगा ? जहाँ अल्पज्ञता होगी, वहाँ दोष की सम्भावना होती है

हाँ दोष या अपराध होता है; वहाँ दुःख की सम्भावना से भय होता है। ईश्वर
र्वज्ञ है। जो सर्वज्ञ होता है, वह सर्वशक्तिमान् होता है। जो सर्वशक्तिशाली
होता है वही आनन्द प्राप्त कर सकता है। जो आनन्दस्वरूप है उसे भय कहाँ ?
संसार में विकार भय के कारण हैं। भय संहारक है, निर्भयता जीवनदायी।
भय शिथिल कर देनेवाला विष है, निर्भयता जीवनदायक अमृत है। भय किंकर्तव्य-
मूढ़ता, निराशा और मृत्यु को जन्म देता है और निर्भयता, प्रसन्नता, शक्ति और
जीवन को। भय ने कभी किसी की कोई सहायता नहीं की, निर्भयता ने अनगिनत
ऐसे व्यक्तियों के जीवन बचाये हैं, जो मृत्यु के मुख में गये हुए-से प्रतीत होते थे।
निराशा और विकार का समागम भय को जन्म देता है। भय उस कायर शत्रु के
समान है जो पीठ पर वार करता है। भय डाकू नहीं, चोर है जो आपके सोते
होने पर आपकी सम्पत्ति का हरण करता है। इस भय को दूर करने के लिए वेद
ने प्रभु के निर्विकार और अभयस्वरूप का वर्णन किया है और उसकी उपासना
तथा उसके गुणों को अपने में धारण करने का उपदेश दिया है। वेद कहता है—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते॥

—ऋ० १।१६४।३९

जिस परम महान् भगवान् में, सम्पूर्ण देव-पदार्थ अपने-अपने अनुसार रहते हैं,
जिस सर्वव्यापक, विकाररहित भगवान् में सब देव—सूर्य-चन्द्र भूमि आदि आधेय
रूप से स्थित हैं, उस परब्रह्म परमेश्वर को जो नहीं जानता है, वह वेद से क्या
करेगा, अर्थात् उसका वेदाध्ययन निष्फल है। जो मनुष्य उस प्रभु को जान लेते
हैं, वे ही

हमारे जीवन मे अलौकिक परिवर्तन होने लगेगा। तब हममें पवित्रता, शुद्धता और स्वच्छता का प्रवेश होगा। जब हम उस अनन्य जीवन से अपनी एकता का अनुभव करेंगे तो हममे अपूर्व धैर्य, आश्वासन और निश्चय प्राप्त होगा और उस समय हम भय से दूर और दूर होते जाएँगे। इसीलिए ऋग्वेद मे कहा गया है—

सुगव्यं नो वाजी स्वश्व्यं पुंसः पुत्रां उप विश्वायुषं रयिम्।
अनागास्त्वं नो अदितिः कृणोतु क्षत्रं नो अश्वो वनतां हविष्मान्॥
—ऋ० १।१६२।२२

धनधान्य का स्वामी शक्ति-सम्पन्न प्रभु हमे गौ आदि धन, सुन्दर अश्वादि सम्पत्ति, और बलवीर्य-सम्पन्न पुरुषार्थी सन्तान तथा सब प्रकार की पुष्टि देनेवाला धन देवे, नाना दानयुक्त, व्यापक विज्ञानी प्रभु हमे राज्य दे, निर्विकार एवं अखण्डित, परमात्मा हमे पापरहित निर्दोष करे।

एक और मन्त्र मे निर्विकार प्रभु का वर्णन करते हुए कहा गया है—

अदितिर्न उरुष्यत्वदितिः शर्म यच्छतु।
माता मित्रस्य रेवतोऽर्यम्णो वरुणस्य चानेहसो व ऊतयः सुऊतयो व ऊतयः॥
—ऋ० ८।४७।९

अखण्डनीय निर्विकार परमात्मा हमे उन्नत करे। निर्विकार जगदीश्वर हमें कल्याण—ऐहिक तथा आमुष्मिक सुख प्रदान करे। वह निर्विकार परमेश्वर सबसे स्नेह करनेवाले धनी का और न्यायकारी धार्मिक राजा का मान करनेवाला है। हे विद्वानो! तुम्हारे लिए उसकी निर्दोष, पापरहित रक्षाएँ होवें तथा उसकी प्रीतियाँ तुम्हारे लिए अच्छे प्रकार से अर्थसाधिका हों।

इन मन्त्रों में निर्विकार प्रभु से धन-दौलत, आयु, यश और कीर्ति माँगी गई है। ईश्वर इन वस्तुओं को तभी देगा जब हम शक्ति के उस दैवीय प्रवाह की ओर अपने मन-मन्दिर के द्वार पूरी तरह से खोल देंगे। जब-जब मनुष्य दुराचरण की ओर प्रवृत्त होता है, जब-जब वह सत्यमार्ग से भ्रष्ट होकर असत्यमार्ग की ओर उन्मुख होता है, जब-जब हम नीचता एवं बेईमानी करते हैं, तब-तब हम सर्वशक्तिमान् निर्विकार सत्ता से अपने को दूर कर लेते हैं और उसी समय सभी प्रकार के सन्देह हमपर छा जाते हैं और हम उनसे घिरकर अपना सर्वनाश कर लेते हैं। उस समय हम उस असहाय और एकाकी बालक की भाँति हो जाते हैं, जो घोर अन्धकार में भटक रहा होता है और जिसे रोने के अतिरिक्त और कुछ नहीं

सूफता, अत: यदि निर्भय बनना चाहते हो तो प्रभु के निर्विकार स्वरूप का ध्यान करो और स्वयं भी निर्भय बनो।

प्रभु अभय है

प्रभु सर्वज्ञ है और सर्वशक्तिमान् है, वह सर्वव्यापक है, अत उसके लिए भय का कोई प्रश्न ही नहीं। भय तो हमें तब होता है जहाँ हमें आनेवाली परिस्थिति का ज्ञान नहीं होता और ज्ञान होने पर हम अपने को उस परिस्थिति से निबटने में असमर्थ समझते हैं। परमेश्वर को सभी स्थानों और कालों का स्पष्ट ज्ञान होने से उसे भय कहाँ सतायेगा ? अथर्ववेद १।२१।१ में कहा गया है—

स्वस्तिदा विशां पतिर्वृत्रहा विमृधो वशी।
वृषेन्द्रः पुरएतु नः सोमपा अभयङ्करः॥

कल्याण देनेवाला प्रजापति, अज्ञान एवं पापनिवारक परमेश्वर, हिंसकों को वश में रखनेवाला, शक्तिशाली, संसार का रक्षक, निर्भय करनेवाला, निर्भय, अभय सकल सामर्थ्य-सम्पन्न प्रभु सदा हमारे समक्ष रहें।

अपने अभयस्वरूप के विषय में यह उद्घोष किया है। हे [illegible]
तू इस समस्त लोक-लोकान्तरों को प्रकाशित करता है। हे [illegible]
यह सब तेरे स्वरूप का [illegible] ही है।

[illegible] और [illegible] दर्शनों ने अनुभव किया है। मनुष्य
जिधर नजर दौड़ाता है उधर भय-ही-भय उसे दिखाई देते हैं। [illegible] मृत्यु का
अपमान का भय, निर्धन हो जाने का भय, [illegible] हो जाने का भय, [illegible]
भय, अपमान-भय, दूसरों के अधीन होने का भय, [illegible] हो जाने का [illegible]
न मिलने की चिन्ता। परन्तु इन भयों में [illegible], कहा है कि [illegible] इन
ये सांसारिक कष्ट मनुष्य को भयभीत नहीं कर पाते। उस प्रभु ने इन लोक-
लोकान्तरों का निर्माण कर अपने अभयस्वरूप को आंखों के सामने रखा है। जो
प्रभु के इस स्वरूप का दर्शन कर लेते हैं, उन्हें संसार के कष्ट, दुःख और विपत्ति
का भय नहीं रहता। स्वामी दयानन्द और अरविन्द के ग्रंथों को पढ़कर,
मनन कर और परमात्मा के अभयस्वरूप से अपना सम्बन्ध स्थापित कर।
जितना समीप पहुँचेगा उतना ही परमात्मा में बस जायेगा। हे जीव! तू दलित
और भयभीत होकर कहाँ पड़ा है? तुझमें अपार की अनन्त शक्ति प्रवाहित हो
रही है। तेरे सामने प्रभु का यह तेजस्वी और निर्भीक रूप चमक रहा है, फिर
तुझे दुःख कहाँ? फिर तुझे भय कहाँ? तेरे हृदय में स्वयं भगवान् बस रहे हैं,
क्यों डरता है? तू किस कार्य से भयभीत है? तू उठ! और अपना मार्ग देख।
भय से डरे हुए, क्लेशों से सताए हुए मानव! तू अपने बन्द किवाड़ों को खोल-
कर देख कि चारों ओर जो तुझे भय, चिन्ता और दुःख दिखाई दे रहे थे वे अब
कहाँ हैं? अरे, यह तो भगवान् का जगत् है जो कि आनन्द से उत्पन्न होता है,
आनन्द में स्थित है और आनन्द में ही लीन होता है। यहाँ भय और दुःख का कहाँ
स्थान है? स्वामी अभयदेव जी आचार्य ने ठीक ही लिखा है "नानाविध भयों
से त्रासित! तू क्यों हर समय क्षण-क्षण में अनिष्ट आशंका से संकुचित हुआ
रहता है? एक बार उठकर क्यों नहीं देख लेता कि इस घर में अपना ही अपना
है, यहाँ भय कैसा? यहाँ तो त्रिकाल में भी किसी का अकल्याण कैसे हो सकता
है? फिर तू इस परम कल्याणमय शासन में क्यों नहीं छाती निकालकर निर्भय
होकर फिरता है? अरे मूर्ख! जिसकी सर्वशक्तिमती माता हर समय जाग रही
है, उसे कैसी फ़िक्र, कैसी चिन्ता?"

अत हमें निराशा के काले बादलों पर अपनी नजर न रखकर आशा और निडरता की मुग्धभरी ऊषा का दर्शन करना चाहिए। चिन्ता की आदत छोड़कर समुज्ज्वल भविष्य का ध्यान करो। यह अभयस्वरूप प्रभु के ध्यान से ही सम्भव है। आइए, हम उस ओर कदम बढ़ाएँ।

ईश्वर सर्वशक्तिमान् है

ईश्वर सर्वशक्तिमान् है। सर्वशक्तिमान् का तात्पर्य यह नहीं कि ईश्वर जो चाहे वह कर सकता है। सर्वशक्तिमान् का मतलब है कि वह अपने नियमों में रहता हुआ, बिना किसी की सहायता के रचनात्मक या विनाशात्मक कार्य कर सकता है। वेद में ईश्वर को सर्वशक्तिमान् माना गया है। मन्त्र देखिए—

अग्ने सहस्राक्ष शतमूर्द्धञ्छतं ते प्राणाः सहस्रं व्यानाः।
त्वं साहस्रस्य राय ईशिषे, तस्मै ते विधेम वाजाय स्वाहा॥

—यजु० १७।७१

हे (सहस्राक्ष) अनन्त नेत्र और (शतमूर्द्धन्) अनन्त शिर-शक्तिसम्पन्न (अग्ने) ज्ञानस्वरूप परमेश्वर (ते प्राणाः शतम्) तेरे प्राण जिलाने के अनन्त उपाय हैं तथा (ते व्यानाः) तेरी मारक शक्तियाँ (सहस्रं) सहस्रों हैं (त्वं साहस्रस्य रायः ईशिषे) तू अनन्त ऐश्वर्यों का स्वामी है (ते तस्मै वाजाय स्वाहा विधेम) हम तेरी उस शक्ति का मन, वाणी और कर्म से आदर करें।

इस मन्त्र में परमेश्वर को अनन्त नेत्रोंवाला और अनन्त शिर-शक्तिवाला बतलाया गया है। ब्रह्मतत्त्व क्या है? इसका उल्लेख करते हुए कहा है—

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः॥

इस विशाल विश्व पर आप दृष्टिपात कीजिए और उसकी तुलना प्रभु से कीजिए तो पता लगेगा कि यह सारा ससार तो केवल उसके एक अंश में है। वह ब्रह्माण्ड से भी बहुत परे व्यापक है, निराकार है और इसी कारण से सूर्य, चन्द्र पृथिवी आदि सारे लोकों का आधार है। वह अनन्त है। चींटी तो हाथी का अन्त पा सकती है पर मनुष्य उसका अन्त नहीं पा सकता।

सचमुच, हमारी आँख बहुत छोटी है। उसकी आँख बड़ी है। जहाँ तक वह देखता है, वहाँ तक हम कभी नहीं देख सकते। इसीलिए ऋग्वेद १।५२।१२ मे उसकी दर्शनशक्ति का वर्णन करते हुए बताया है—

स्वमस्य पारे रजसो व्योमनः स्वभूत्योजा अवसे धृषन्मनः।
चकृषे भूमिं प्रतिमानमोजसोऽपः स्वः परिभूरेष्या दिवम् ॥

हे ईश्वर! (अस्य रजसः व्योमनः पारे) इस अन्तरिक्ष और आकाश के परे (स्वभूति ओजा) अपनी महिमा के बल से युक्त तथा (धृषन्मनः) दृढ मन से युक्त तू (अवसे) हमारी रक्षा के लिए (भूमिं) भूमि की (चकृषे) रचना करता है। तू (ओजसः) शक्ति का (प्रतिमानं) नमूना हुआ है तू (अपः) अन्तरिक्ष तथा (दिवम्) द्युलोक मे (परिभूः) व्यापक और (स्वः) प्रकाशस्वरूप द्यौ मे (आ एषि) सर्वत्र प्राप्त है।

शतं सहस्रमयुतं न्यर्बुदमसंख्येयं स्वमस्मिन्निविष्टम्।
तदस्य घ्नन्त्यभिपश्यत एव तस्माद्देवो रोचत एष एतत् ॥

—अ० १०।८।२४

(शतं सहस्रम्) सौ सहस्र (अयुतं) दश सहस्र (न्यर्बुदं) दस करोड़ और (असंख्येयं) असंख्यात (स्वं) शक्ति, आत्मिक बल (अस्मिन् निविष्टं) इस ब्रह्म मे हैं (तत्) उस परमेश्वर को (अभिपश्यतः) भली प्रकार साक्षात्कार करनेवाले (अस्य) महात्मा को (घ्नन्ति) यह प्राप्त होती है। (तस्मात्) उस अनन्त सामर्थ्य से (एषः देव) यह दिव्यगुण-सम्पन्न प्रभु (एतत्) इस ससार को (रोचते) प्रकाशित करता है।

यह मन्त्र बतलाता है कि परमेश्वर सर्वशक्तिमान् है और उस अनन्त जीवन से हमारी एकता है। हम परमपिता परमात्मा से दूर नहीं हैं। उसकी छत्रछाया हमपर सदा विद्यमान रहती है, हमे अपूर्व धैर्य, आश्वासन और निश्चय प्राप्त होता है। हमें विश्वास हो जाता है कि हम आकस्मिक सयोगों और विरमन के गुलाम नहीं, हम उनका संचालन करनेवाले हैं, उनके स्वामी हैं। जहाँ और जब

प्रभु के इस सर्वशक्तिमान् स्वरूप की झलक हमें मिल जाती है, जब हमें यह ज्ञान होने लगता है कि सर्वशक्तिमान् प्रभु से हमारी एकता है, तब जहाँ हम पापों से बचते हैं, वहाँ कभी किसी से भयभीत नहीं होते। सन्त कवि दूलनदास ने प्रभु की सर्वशक्तिमत्ता का ध्यान कर लिखा है—

सुनत चिकार पिपीलिका, ताहि रटहु मन माँहि।
'दूलनदास' विश्वास भजि, साहिब बहिरा नाँहि॥

तुम उस सर्वशक्तिशाली प्रभु का नाम सदा रटा करो जो चींटी की भी आर्त-पुकार सुन लेता है। तुम उसे विश्वासपूर्वक भजो, वह जरूर सुनेगा। हमारा घटघटवासी प्रभु बहरा नहीं है।

दादूदयाल ने लिखा है—

जिहि घट दीपक ईश का, तिहि घट तिमिर न होइ।
उस उजियारे जोति के, सब जग देखे सोइ॥

जिस घट के अन्दर सर्वप्रकाशक प्रभु का ज्योति-दीपक जल रहा है, वहाँ कभी अज्ञान का अन्धकार प्रवेश नहीं करता, उस परम ज्योति के प्रकाश में सारा जगत् दृष्टिगोचर होता रहता है।

ऋग्वेद १०।१२१।१० में बतलाया गया है—

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परिता बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥

प्रजा के स्वामिन् परमेश्वर! इन सब जगत् के पदार्थों पर (त्वदन्यः) तुमसे भिन्न दूसरा कोई भी (न परिबभूव) स्वामित्व नहीं रखता है। (यत् कामाः) जिन इच्छाओं को धारण करते हुए हम सब (ते जुहुमः) तेरा यश करते हैं, (तत् नः

हे जगदीश्वर ! (ते धाय शवसः अन्तः न आपि) तेरी इस शक्ति का अन्त किसी से नहीं पाया जाता (तु) और (रोदसी) द्यावापृथिवी को (विबाधसे) विशेष रीति से थामता है अर्थात् बिना किसी सहारे के आकर्षण-शक्ति द्वारा उनको स्थिर रखता है, गिरने नहीं देता। तेरी (ता ऊती:) उन रक्षाओं को (सर्मासमान) इसी प्रकार प्राप्त करता हुआ और (सुसुम्नम.) शीघ्र तदनुसार अनुष्ठान करता हुआ (सूरि:) विद्वान् (अप्सु) प्राणों में (आपृणति) प्रसन्न होता है (इव यूथा पशु) जिस प्रकार पशुओं के समूह जल से तृप्त होते हैं।

इस विराट् विश्व के दर्शन से उसकी अनन्त शक्ति का पता चलता है। उसकी लीला कितनी विचित्र है बिना किसी सहारे के सभी ग्रह, उपग्रह, सूर्य और तारों को उसने धारण किया हुआ है।

ऐसे सर्वशक्तिमान्, व्यापक और सर्वस्रष्टा प्रभु से जब मनुष्य का मन लग जाता है, उससे उसकी एकता हो जाती है तब वह और कहीं भटकना पसन्द नहीं करता। 'जगजीवन' के शब्दों में वह अपना मन 'सर्वशक्तिमान्' परमात्मा ही में लगाता है—

सत समरथ मे राखि मन,
करिय जगत् का काम।
'जगजीवन' यह मन्त्र है,
सदा सुक्ख विसराम॥

यदि तू सदा सुख और शक्ति चाहता है तो यह महामन्त्र सीख ले—'तू अपना मन तो सर्वशक्तिमान् परमेश्वर (सत् समर्थ पुरुष) में लगाये रख, और जगत् के कर्तव्य कर्म करता जा।

ऋग्वेद के ५।३८।२ मन्त्र में 'शविष्ठ' शब्द द्वारा ईश्वर को शक्तिमय बतलाया गया है और उससे प्रार्थना करते हुए कहा गया है "हे शक्तिमय ईश्वर! तू सबको भोगादि के लिए प्रशसनीय अन्न देता है जिसको न चोर चुरा सकता

... साथ न कोई शूरवीर, न कोई शत्रुनाशक, न कोई यापनी

योद्धा और न कोई शत्रुओं का घर्षण करनेवाला ही युद्ध कर सकता है। तू सब वीरों का पराभव कर सकता है।"

ऋग्वेद के १।१००।१५ मन्त्र में बतलाया गया है—

न यस्य देवा देवता न मर्ता आपश्चन शवसो अन्तमापुः।
स प्ररिक्वा त्वक्षसा क्ष्मो दिवश्च मरुत्वान्नो भवत्विन्द्र ऊती ॥

परमेश्वर की अनुपम शक्ति का कोई अन्त नहीं पा सकता। वह अपने बल से पृथिवी और द्युलोक को वश में रखता है अर्थात् वह स्वयं उनसे अधिक शक्तिशाली है। उस महान् शक्तिशाली की शक्ति जब हमारी रक्षा कर रही होती है तो भला हमारा अनिष्ट कैसे हो सकता है, हमारा दुःख कैसे रह सकता है! तभी तो कवि ने कहा है—

आओ प्यारे, तुम्हें मिलायें वैद्यराज उस ईश्वर से।
जिसके निकट रोग नहीं आते ऐसे उस जगदीश्वर से॥
सब दुःखों का हरनेवाला जगन्नियन्ता स्वामी है।
जीवनज्योति जगानेवाला घट-घट अन्तर्यामी है॥

एक अन्य मन्त्र देखिए—

इन्द्रे विश्वानि वीर्या कृतानि कर्त्वानि च।
यमर्का अध्वरं विदुः ॥ —ऋ० ८।६३।६

अर्थात् जिस प्रभु को, स्तुति करनेवाले ज्ञानीभक्त, अहिंसनीय, अहिंसक जानते हैं, उस सकलैश्वर्य-सम्पन्न प्रभु में ही कृत = प्रकाशित और करिष्यमाण = अप्रकाशित सब शक्तियाँ हैं। इसलिए वेद कहता है—

वि यो रजांस्यमिमीत सुक्रतुर्वैश्वानरो वि दिवो रोचना कविः।
परि यो विश्वा भुवनानि पप्रथेऽदब्धो गोपा अमृतस्य रक्षिता ॥

—ऋ० ६।७।७

जिस (सुक्रतुः) उत्तम रचना करनेवाले महान् शिल्पी (वैश्वानरः) सब विश्व के लोगों के हितकारी भगवान् ने (रजांसि) पृथिवी आदि लोकों को (वि अमिमीत) विविध प्रकार से बनाया है (कविः) जिस महान् ज्ञानी ने (दिवः) द्युलोक के (रोचनाः) चमकनेवाले सूर्यादि लोकों को (वि) बनाया (यः) जिसने (विश्वा) सभी (भुवनानि) लोकों का (पप्रथे) विस्तार किया है, वही भगवान् (अदब्धः) अदम्य शक्तियोंवाला (गोपाः) हमारी इन्द्रियों, ज्ञान, गौओं और भूमि की रक्षा करने-

ईश्वर सर्वाधार और सबका स्वामी है

इस संसार में ईश्वर, जीव और प्रकृति तीन अनादि और अनन्त हैं। इनमें से प्रकृति और जीव का अधिष्ठाता, नियामक और नियन्ता परमेश्वर है। सत्यार्थप्रकाश में एक मन्त्र में स्वामी दयानन्दजी महाराज ने ऋग्वेद के एक मन्त्र द्वारा बड़े सुन्दर शब्दों में तीन अनादि शक्तियों का उल्लेख किया है और लिखा है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति॥

—ऋ० १।१६४।२०

(सयुजा सखाया) साथ मिले-जुले मित्र (द्वा सुपर्णा) दो सुपर्ण (समानं वृक्षं परिषस्वजाते) एक ही वृक्ष पर साथ-साथ रहते हैं (तयोः अन्यः) उनमें से एक (स्वादु पिप्पलं अत्ति) मीठा फल खाता है (अन्यः) दूसरा (अनश्नन्) भोग न करता हुआ (अभिचाकशीति) केवल प्रकाशता है।

जीवात्मा और परमात्मा दोनों प्रकृतिरूपी वृक्ष पर बैठते हैं। जीवात्मा कर्म के फल खाता है, परमात्मा कुछ न भोगता हुआ (उसके कर्मों का फल देता हुआ) प्रकाशमान होता है। ये दोनों परस्पर मित्र हैं। विशेषकर परमात्मा जीवात्मा की उत्तम सहायता करने के कारण उसका सच्चा मित्र है। उसी को पिता, माता और बन्धु आदि नामों से वेद में पुकारा गया है।

यस्मिन्वृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशन्ते सुवते चाधि विश्वे।
तस्येदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे तन्नोन्नशद्यः पितरं न वेद॥

—ऋ० १।१६४।२२

(यस्मिन् वृक्षे) जिस वृक्ष में (मध्वदः सुपर्णाः) मीठा फल खानेवाले पक्षी (निविशन्ते) रहते हैं और (विश्वे) सब (अधिसुवते) सन्तान उत्पन्न करते हैं (तस्य इत्) उसी का ही (स्वादु पिप्पलं आहुः) मीठा फल है ऐसा कहते हैं। (यः) जो (अग्रे) प्रारम्भ में उस (पितरम्) अपने पिता को (न वेद) नहीं जानता (तत् न उन्नशत्) वह उस आनन्द को प्राप्त नहीं कर सका।

प्रकृति जगद्रूपी वृक्ष पर जो मीठे फल लगते हैं उनको जीवात्मागण खाते हैं

और उसी वृक्ष पर रहकर अल्पज्ञ उपभोग करते हैं। इसका लिंग सामान्य है, जो उसको जानते हैं वे बन्धन से छूट जाते हैं परन्तु जो उसको जानने की इच्छा नहीं करते वे मुक्ति से दूर हो जाते हैं।

इस मन्त्र में जिस प्रकार जीवात्मा का लिंग और परमेश्वर का संकेत को दर है उसी प्रकार ऋग्वेद के एक दूसरे मन्त्र 10।5।7 में प्रकृति का संकेत है परमेश्वर को बताते हुए कहा गया है —

> असच्च सच्च परमे व्योमन्दक्षस्य जन्मन्नदितेरुपस्थे।
> अग्निर्ह नः प्रथमजा ऋतस्य पूर्व आयुनि वृषभश्च धेनुः॥
>
> —ऋ० 10।5

बल की उत्पत्ति के समय (अदितेः) अविनाशी मूल प्रकृति के (उपस्थे) समीप स्थ
पर (परमे व्योमन्) अत्यन्त विस्तृत आकाश में (सत् च) तीनों कालों में एक
रहनेवाला अविकारी आत्मतत्त्व और (असत् च) उस आत्मा से भिन्न पदार्थ
इस (पूर्व आयुनि) पूर्व अवस्था में (ह नः) निश्चय से हम सबके अन्दर (प्रथ
प्रथमजाः) सत्य धर्म का पहला प्रवर्तक (अग्निः) तेजस्वी ईश्वर प्रकाशित
जिसके साथ (वृषभः) बलवान् आत्मा और (धेनुः) कामधेनु बुद्धि अथवा प्र
थी।

प्रकृति और ईश्वर अनादिकाल से हैं। प्रकृति में बल का संचार ईश्वर करता है। ब्रह्माण्ड की सूक्ष्म अवस्था से पूर्व ब्रह्माण्ड अव्याकृत अवस्था में होता है अर्थात् प्रकृति की अपनी कारणावस्था में होता है। इस अव्याकृत अवस्था का नियामक होने से परमात्मा का नाम ईश्वर है। परमात्मा अपना ईशन् (ईश+वर) अपने नियमन का कार्य मुख्य रूप से इस अव्याकृत अवस्था द्वारा करता है। जगत् के मूल कारण में लगी हुई परमात्मा की ईशन शक्ति ही मूल कारण की परिणत अवस्थाओं में भी ईशन का काम दे रही है। जिस प्रकार मशीन के पुर्जे में गति देने से समस्त मशीन गति में हो जाती है इसी प्रकार मूल कारण में प्रेरणा देनेवाली ईशन शक्ति ही स्थूल तथा सूक्ष्म जगत् में भी ईशन का कार्य कर रही है, अतः ईशन शक्ति का मुख्य सम्बन्ध चूंकि मूल कारण के साथ हुआ करता है तथा कार्यों में ईशन शक्ति का प्रभाव मूल कारण के द्वारा आया करता है, अतः जगत् के मूल कारण का नियामक होने के कारण परमात्मा को ईश्वर (ईशन शक्तिवाला) कहा जाता है। सत्य धर्म का पहला प्रवर्तक ईश्वर है। बल और पोषकशक्ति, बलवान् आत्मा

और सुबुद्धि ये सब परमेश्वर के साथ रहते हैं अर्थात् परमेश्वर से सबको बल प्राप्त
ता है और परमात्मा से उत्तम बल प्राप्त करके ही सब अपना कार्य योग्य रीति
करने में सफलता और सुफलता प्राप्त करते हैं।

एक अन्य मन्त्र में परमेश्वर को सर्वाधार माना गया है—

वया इदग्ने अग्नयस्ते अन्ये त्वे विश्वे अमृता मादयन्ते।
वैश्वानर नाभिरसि क्षितीनां स्थूणेव जनाँ उपमिद्ययन्थ॥

—ऋ० १।५९।१

अग्ने) हे अग्ने! (ते अन्ये अग्नयः) वे दूसरे अग्नि=जीव (त्वे) तेरे अन्दर (वया
त्) शाखाओं के समान ही हैं अर्थात् आश्रित हैं। वे सब (अमृताः) मुक्त होकर
तुमसे (मादयन्ते) आनन्द पाते हैं। (वैश्वानर) सर्वनियन्ता ईश्वर! तू (क्षितीनां
नाभिः) सब लोकों का केन्द्र है (स्थूणा इव) स्तम्भ के समान (जनान्) सब जनता
र तू (उपमित्) समीपस्थ होता हुआ (ययन्थ) नियमन करता है।

इस सर्वाधार ईश्वर की शक्ति और सहायता प्राप्त करने के लिए और
शक्तियों का स्वामी बनने के विषय में वेद कहता है—

त्रयस्त्रिंशद्देवतास्त्रीणि च वीर्याणि प्रियायमाणा जुगुपुरप्स्वन्तः।
अस्मिंश्चन्द्रे अधि यद्धिरण्यं तेनायं कृणवद् वीर्याणि॥

—अ० १९।२७।१०

प्रेममय आचरण करनेवाले लोग अपने कर्मों से तैंतीस देवों और तीन प्रकार की
शक्तियों को सुरक्षित रखते हैं। उस आनन्दमय परमेश्वर में जो तेज है उसके
द्वारा यह मनुष्य पुरुषार्थ करता है। ईश्वरभक्ति से मनुष्य संसार की समस्त
शक्तियों का स्वामी हो जाता है और वह प्रतिदिन परमात्मा को अपना आधार
अनुभव करने लगता है।

जल, स्थल, स्थावर, जंगम, वन, पर्वत आदिकों के अन्दर व्याप्त अमर
परमात्मा अपनी शक्ति से रहता है। जिस प्रकार प्रजाओं का निवासक राजा होता
है उसी प्रकार सबका निवासक वही है। इसलिए उसकी पूजा करनी चाहिए।

गर्भो यो अपां गर्भो वनानां गर्भश्च स्थातां गर्भश्चरथाम्।
अद्रौ चिदस्मा अन्तर्दुरोणे विशां न विश्वो अमृतः स्वाधीः॥

—ऋ० १।७०।२

(यः) जो (अपां गर्भः) जलों का आधार (वनानां गर्भः) वनों का सहारा (स्थातां

जहाँ से सूर्य उदय होता है और जहाँ वह अस्त होता है, वही श्रेष्ठ ब्रह्म है। कोई भी उसका उल्लंघन नहीं करता।

वेदाहं सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः।
सूत्रं सूत्रस्याहं वेदाथो यद् ब्राह्मणं महत् ॥

—अ० १०।८।३८

अर्थात् जिसमें ये सब प्रजाएँ ओतप्रोत हैं, उस फैले हुए सूत्र को मैं जानता हूँ और सूत्र के सूत्र को भी जानता हूँ और बड़ा ब्रह्मज्ञान भी मैं जानता हूँ।

यस्मिन्स्तब्ध्वा प्रजापतिर्लोकान् सर्वां अधारयत्।
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥

—अ० १०।७।७

अर्थात् जिसमें रहकर प्रजापति सब लोकों का स्तम्भन करके धारण किये करता है, वह आधारस्तम्भ है ऐसा तू कह। वह निश्चय करके आनन्दस्वरूप परमात्मा है।

यत्र लोकांश्च कोशांश्चापो ब्रह्म जना विदुः।
असच्च यत्र सच्चान्तः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥

—अ० १०।७।१०

ज्ञानी लोग जिसमें सब लोकों और सब कोशों को तथा मूल प्रकृति को और ब्रह्मज्ञान को प्राप्त करते हैं तथा जगत् और जीवात्मा भी जिसके भीतर हैं, वही सर्वाधार है ऐसा तू कह। वह अत्यन्त आनन्दरूप है।

यस्मिन् भूमिरन्तरिक्षं द्यौर्यस्मिन्नध्याहिता।
यत्राग्निश्चन्द्रमाः सूर्यो वातस्तिष्ठन्त्यार्पिताः

इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्या इन्द्रो अपामिन्द्र इत्पर्वतानाम्।
इन्द्रो वृधामिन्द्र इन्मेधिराणामिन्द्रः क्षेमे योगे हव्य इन्द्रः॥
—ऋ० १०।८९।१०

र्थात् परमेश्वर ही द्युलोक का अधिष्ठाता है, परमेश्वर ही पृथिवी का, परमेश्वर
जलों का, परमेश्वर ही पर्वतों तथा मेघो का, परमेश्वर ही वृद्धिशीलों का,
न्द्रः इत् मेधिराणाम्) इन्द्र ही मेधावियो या इकट्ठे कार्य करनेवालों का स्वामी
। योग और क्षेम मे ईश्वर ही स्मरण करने योग्य है।

सचमुच जब हम अपनी दृष्टि उठाकर इस विराट् विश्व को देखते हैं तो हमे
विश्व की रचना, पालन और सहार में उस विराट् प्रभु का हाथ दिखाई देता
जिसका एक-एक नियम अटूट और अविचल है, जिसकी व्यवस्था अचम्भे में
लती है, जिसका न्याय अक्षुण्ण और अपूर्व है, सम्पूर्ण विषयों के वेद जिसके
श्वासमात्र हैं, अनन्तकाल से ससार मे प्रकाश का प्रसार करनेवाले सूर्य और
द जिसके निमेषमात्र हैं, ऊँची लहरो मे उमडता असीम समुद्र जिसकी आज्ञा
सीमा न छोडने के लिए विवश है और जिसके हुक्म को बजाने के लिए हजारों
त्माएँ हर वक्त हाथ जोडकर खड़ी रहती हैं।

इसलिए आइए, हम सर्वाधार सर्वेश्वर प्रभु से प्रार्थना करें—

छोड़ नटनागर तुम्हें, जाऊँ कहाँ?
तुम-सा वरदाता भला पाऊँ कहाँ?
कीर्ति दो, धन दो प्रभो! बल दो मुझे,
पूर्ण हो सब कामना, पुत्र-दो मुझे,
गा रही सब प्राणियाँ तुमको यहाँ,
भेंट मैं अन्यत्र पहुँचाऊँ कहाँ?

ईश्वर अजर और अमर है

(बृहन्तम्) सर्वमहान् (युवानम्) सदा जवान (ऋत्वम्) पूर्ण ज्ञानी (अवाळ्हेन शवसा शूशुवांसम्) असह्यबल से युक्त होकर सर्वत्र व्याप्त (अजरं) जरारहित (इन्द्रम्) सर्वैश्वर्यवान् भगवान् को (धात्) धारण करता है वह (सद्यः) शीघ्र (अमामि) अद्वितीय अथवा अत्यन्त (वावृधे) वृद्धि को प्राप्त होता है।

इस मन्त्र में बतलाया गया है कि परमेश्वर सदा युवा रहता है, वह जरा अर्थात् बुढ़ापे से रहित है। मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी बुद्धि तथा कर्म द्वारा उसकी पूजा करे। वेद में अनेक स्थलों पर परमेश्वर को अजर और अमर कहा गया है। ऋग्वेद में बतलाया गया है—

अश्याम तं काममग्ने तवोती अश्याम रयिं रयिवः सुवीरम्।
अश्याम वाजमभि वाजयन्तोऽश्याम द्युम्नमजराजरं ते॥

—ऋ० ६।५।७

हे (अजर अग्ने) क्षीण और जीर्ण न होनेवाले तेजस्वी देव! (तव ऊती) तेरे रक्षणों के द्वारा (कामं अश्याम्) हम मन की कामना को प्राप्त करें, हे (रयिवः) धन-युक्त! (सुवीरं रयिं) उत्तम वीरों से युक्त धन को (अश्याम) प्राप्त करें। (अभिवाजयन्तः) सब प्रकार से भोग्य अन्न की इच्छा करनेवाले हम (वाजं अश्याम) अन्नादि प्राप्त करें तथा (ते अजरं द्युम्नम्) तेरे क्षीण न होनेवाले प्रकाशमान यश को (अश्याम) प्राप्त करें।

वेद के एक मन्त्र में ईश्वर को अमर बतलाया गया है और उससे धन और ऐश्वर्य की कामना की गई है—

अहमिन्द्रो न परा जिग्य इद्धनं न मृत्यवेऽवतस्थे कदा चन।
सोममिन्मा सुन्वन्तो याचता वसु न मे पूरवः सख्ये रिषाथन॥

—ऋ० १०।४८।५

(अहमिन्द्रः न परा जिग्ये) मैं ऐश्वर्यसम्पन्न, सर्वप्रकाशक कभी किसी से पराजय को प्राप्त नहीं होता (न कदाचन मृत्यवे अवतस्थे) और न ही कभी मृत्यु को प्राप्त होता हूँ, अर्थात् अमर हूँ। (धनम् इत) धनादि ऐश्वर्य का प्रदाता मैं ही हूँ। (सुन्वन्तः) धनादि ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए यत्न करते हुए तुम (वसु) विज्ञानादि धन को (मा सोमं इत्) मुझ ईश्वर ही से (याचत) माँगो (पूरवः) हे विज्ञानी ... (मे सख्ये न रिषाथन) मेरी मैत्री में तुम्हें कष्ट न होगा।

... ईश्वर को अजर और अमर बतलाया गया है। पहले मन्त्र में

उसे अजर और सदा युवा रहनेवाला बताते हुए पूर्ण ज्ञानी, असह्यबल से युक्त होकर सर्वत्र व्यापक, सर्वैश्वर्यवान् भगवान् को बुद्धि और कर्म द्वारा प्राप्त करने की बात कही गई है।

बुद्धि या ज्ञान द्वारा भगवान् को प्राप्त करनेवाला व्यक्ति सांसारिक कष्टों, दुःखों और विपत्तियों के प्रति निश्चिन्त रहता है। दो हजार वर्ष पहले यूनान के एक नगर को शत्रुओं ने जीत लिया। नगरनिवासी वीरता से लड़े थे, इसलिए विजेताओं ने नगरवासियों को जितना सामान वे ले जा सकें, ले जाने की छूट दे दी। परिवार के सभी स्त्री, पुरुष और बच्चे अपने कन्धों और पीठ पर सामान लादे चले जा रहे थे। बोझ से उनकी कमर झुकी जा रही थी; पाँव लड़खड़ा रहे थे, प्यास से कण्ठ सूखे जा रहे थे और सब हाँफ रहे थे। उनमें एक पुरुष खाली हाथ था। वह दार्शनिक था बायस।

'क्या तुम्हारे पास ले चलने को कोई सामान नहीं है? क्या तुम अपने साथ कुछ भी नहीं ले चल रहे हो?' बोझ से दबे जाते हुए उसके साथियों ने उससे पूछा।

एक स्त्री ने दयापूर्ण दृष्टि डालते हुए कहा "ओह, बेचारा कितना गरीब है, उसके पास ले-जाने को कुछ है ही नहीं!"

दार्शनिक हँसा, उसने मुस्कराते हुए कहा, "अपने साथ मैं अपनी सारी पूँजी ले-चल रहा हूँ।"

उसकी पूँजी आत्ममन्थन से निकले हुए विचार थे जिन्हें वह अपने मस्तिष्क में अपने साथ लिये जा रहा था। उसकी वह अदृश्य पूँजी सदा उसके साथ रहती थी। यह ज्ञान की पूँजी ऐसी पूँजी है जो आनन्दस्वरूप परमेश्वर से मनुष्य का सम्पर्क जोड़ देती है। यह प्रभु की बुद्धि या ज्ञान द्वारा उपासना का मार्ग खोल देती है। जो प्रभु के आनन्दमय, सर्वशक्तिशाली रूप का मर्म समझ लेता है उसे कष्ट नहीं हो सकता है। इसीलिए बायस चिन्तामुक्त था—दुःखों से परे था। उसकी पूँजी—ब्रह्मज्ञान सबसे महान् थी।

इसके बाद के मन्त्रों में परमेश्वर से अन्न, धन और बल की प्रार्थना की गई है और परमेश्वर को कर्तव्यविमुख न होनेवाला बताया गया है। परमेश्वर से इन वस्तुओं की जब हम माँग या प्रार्थना करते हैं, उस समय कभी-कभी हम यह सोचने लगते हैं कि परमेश्वर इन वस्तुओं को उठाकर हमें दे देगा। सोमनाथ के पुजारी सोमनाथ भगवान् से रक्षा की प्रार्थना करते रह गये परन्तु, सोमनाथ उनकी रक्षा

न कर सका। मन्दिर लुट गया। भगवान् की मूर्ति टूट गई, वे पराजित हो गये। प्रार्थना करनेवाले कत्ल कर दिये गये। क्यों ? क्योंकि मूर्ति पत्थर की थी—वह भगवान् का वास्तविक स्वरूप न था। दूसरी बात यह थी कि भगवान् स्वयं रूप धारण कर या स्वयं प्रकट होकर मनुष्य को बचा नहीं सकता। शरीर और आत्मा ये दो वस्तुएँ हैं। शरीर और आत्मा की इच्छाओं में अन्तर भी होता है। आत्मा की इच्छाएँ वास्तव में ईश्वरीय प्रेरणा का फल हैं। जिस समय मनुष्य के हृदय या आत्मा में परमेश्वर की शक्ति का उदय हो जाता है, जब उसके प्रति अटल विश्वास जाग्रत् हो जाता है, मनुष्य में एक अद्‌भुत शक्ति, अद्‌भुत बल आ जाता है। उस समय वह अपने को प्रभु के समान शक्तिशाली अनुभव करने लगता है और उसके मुँह से निकल पड़ता है 'अहमिन्द्रो न पराजिग्ये'। मैं इन्द्र हूँ—मैं किसी से कभी पराजित हो ही नहीं सकता। सचमुच, जिसके ऊपर प्रभु की कृपा है वह अपने को वैसा समझे भी क्यों नहीं ? इसलिए उस समय उसकी अभिलाषाएँ प्रभु की प्रेरणाएँ बन जाती हैं। ये अभिलाषाएँ हमारे मन के द्वार खोलकर हमें सफलता का मार्ग दिखला देती हैं। प्रत्येक व्यक्ति को जो परमेश्वर के इस 'अजर' और 'अमर' रूप का ध्यान कर अपनी वास्तविकता को समझ लेता है, उसे यह

शक्तिमान् के रूप में विद्यमान रहता है अर्थात् जो व्यक्ति अजर और अमर ईश्वर की छत्रछाया में रहता है, ईश्वर उसकी रक्षा करता है। अगर हम उसके संरक्षण में रहते हुए उसपर विश्वास करेंगे तो वह विश्वास हमारी ढाल बनकर हमारी रक्षा करेगा। वास्तव में जब 'अजर' परमेश्वर का 'अमर' रूप हमारी दृष्टि और मन में रहता है तब हम उस सर्वशक्तिशाली परमेश्वर की स्थायी छत्रछाया का अनुभव करते हैं, तब भय और कमजोरी दूर होती हैं। निर्भयता और साहस के आने से हम कर्मक्षेत्र में अवतीर्ण होते हैं और आगे बढ़ने लगते हैं। ईश्वर में विश्वास मन में साहस लाता है। साहस मन का सम्राट् है। उसके विकास के साथ ही अन्य मानसिक शक्तियाँ विकसित होने लगती है और उसके पतन के साथ अन्य मानसिक शक्तियाँ भी अपना काम छोड़ देती हैं। साहस के नेतृत्व के बिना कोई भी शक्ति आगे नही बढ़ती। परन्तु साहस जब मार्ग दिखाता है तो अन्य शक्तियाँ भी उभरकर सामने आ जाती हैं। शक्तियों के सामने आने से मनुष्य को अन्न, बल, शक्ति और मन भी प्राप्त होता है। इसीलिए इस मन्त्र में प्रभु से यह प्रार्थना की गई।

निराशा और भय से छुटकारा पाने के लिए 'अहमिन्द्रो न पराजिग्ये' मैं इन्द्र हूँ, कभी पराजित नहीं हो सकता हूँ, 'न मृत्यवे अवतस्थे कदाचन' कभी मृत्यु को प्राप्त नहीं कर सकता हूँ—इन रूपों का ध्यान करना चाहिए। मृत्यु क्या है? जीवन की गति का अवरुद्ध होना ही मृत्यु है। जब हमारा कदम आगे बढ़ने से रुक जाता है, मृत्यु हो जाती है। साहसहीन और निराश व्यक्ति सांस लेते हुए भी मृतवत् ही होते हैं। इसलिए इनको दूर करने के लिए उस देदीप्यमान और तेजस्वी, गतिशील और युवा परमेश्वर का ध्यान करना चाहिए। वह हमें अपनी प्रेरणा से प्रेरित करेगा, वह हमें अपने जीवन से जीवित करेगा, वह हमें प्राण से अनुप्राणित करेगा। उसके द्वारा बताये हुए मार्ग और उसकी दी प्रेरणा का उदय अपनी अन्तरात्माओं में कीजिए और आशा तथा विश्वास के साथ जीवन में बढ़ते चलिए, तो कोई भी कठिनाई आपकी प्रगति नहीं रोक सकती। जब आप अपनी ईश्वरीय शक्ति को पहचान जाएंगे, तब आपका खोया साहस लौट आएगा। आप अपने विषय में एक नवीन दृष्टिकोण लेकर चल सकेंगे, अर्थात् बिलकुल नया जीवन पा लेंगे।

बुढ़ापा और मृत्यु तो भाग्यहीनों के लिए है। ईश्वरविश्वासी न बूढ़ा होता है,

न मरता है। इसलिए प्रभु के अजर और अमर रूप के उपासको ! आप केवल उसके इन गुणों का मुख से उच्चारणमात्र ही मत करो, इन्हें अपने में धारण भी करो। उठो और प्रकाश की ओर, जीवन की ओर, अभ्युदय की ओर बढ़ चलो। भाग्य को कोसना छोड़कर साहसी और सफल जीवन बनाकर दिखाओ जो तुम्हारा प्रभु तुमसे चाहता है। अपने-आपसे कहो—'मैं उस अजर और अमर, कभी पराजित न होनेवाले, कभी न मरनेवाले प्रभु का प्रतिनिधि हूँ, फिर निराश होने का क्या कारण है? मेरा निराश और निरुत्साहित होना ईश्वर को कभी स्वीकार नहीं। मैं जीवन में सरलता या पराजय के लिए नहीं आया। मैं स्वयं विजय हूँ। मैं धीर, साहसी और विजेता हूँ, परिस्थितियों का दास नहीं। मैं स्वतन्त्र हूँ, बन्दी नहीं। मैं साहस हूँ, मैं शक्ति हूँ—आत्मविश्वास हूँ। मेरा तो यही निश्चय है—यही विश्वास है कि मेरे सारे जीवन की डोर उस सर्वशक्तिमान्, अजर और अमर प्रभु के हाथ में है जो सारे विश्व का नियन्ता है।'

इस विश्वास के साथ जीवन में चलनेवाला मनुष्य कभी असफल नहीं हो सकता, यही इन मन्त्रों का भाव है।

अजर-अमर प्रभु की सन्तानो! तुम्हारा अस्तित्व विनाश और परिवर्तन से ऊपर है। तुम अमर हो, तब तुम्हें जीवन में घबराने की आवश्यकता क्या? साधारण बातों से घबराओ मत! परिस्थितियों पर विजय प्राप्त करो! तुम्हें अन्न, बल, शक्ति, ऐश्वर्य और जीवन प्राप्त होगा। आइए हम प्रभु से कहें—

> तुम शक्तिमान्, तुम ज्ञानवान्, तुम ऐश्वर्यों की सेवक खान।
> भर दो भर दो मुझमें अपनी, सब-की-सब जो निधियाँ महान्॥
>
> हे देव, मेरे देव ··
>
> मैं जिससे मानव-धर्म पाल, सब तोड़ विश्वबन्धन कराल।
> बन राम कृष्ण और दयानन्द तुममें लय हो जाऊँ कृपाल॥
>
> ह···

ईश्वर अनन्त और अनुपम है

अनन्तं विततं पुरुत्रानन्तमन्तवच्चा समन्ते ।
ते नाकपालश्चरति विचिन्वन् विद्वान् भूतमुत भव्यमस्य ॥
—अ० १०।८

(अनन्तं) अन्तरहित ब्रह्म (पुरुत्रा) सर्वत्र (विततं) फैला हुआ है। (समन्ते) मि
हुए (अनन्तं) अनन्त (अन्तवत् च) और अन्तवाला (ते) इन दोनों को (विचिन्
अलग-अलग करता हुआ (उत अस्य भूतं भव्यम्) तथा इसके भूत और भवि
को (विद्वान्) जाननेवाला (नाकपालः) सुख का पालनकर्ता होकर (च
विचरता है।

ऋग्वेद १।१००।१५ में कहा है—परमेश्वर के बल का अन्त कोई भी
पा सकता। वह द्युलोक और पृथिवी से बड़ा है। उसकी रक्षा में रहने से
नाश नहीं होगा—

न यस्य देवा देवता न मर्ता आपश्चन शवसो अन्तमापुः ।
स प्ररिक्वा त्वक्षसा क्ष्मो दिवश्च मरुत्वान्नो भवत्विन्द्र ऊती ॥

(देवाः देवताः) विद्वान् और सूर्य-चन्द्रादि (मर्ताः) मनुष्य अथवा (आपः) जल
(यस्य शवसः अन्तम्) जिसके बल का अन्त (न आपुः) नहीं प्राप्त कर स
(स मरुत्वान् इन्द्रः) वह जीवनाधार प्रभु (दिवः क्ष्मः च) द्युलोक और पृथिवीलो
को (त्वक्षसा प्ररिक्वा) बल से रिक्त करनेवाला (नः ऊती भवतु) हमारी र
करनेवाला है।

अन्तवाले अर्थात् मर्यादा से युक्त जगत् के अन्दर अनन्त अर्थात् मर्या
रहित परमात्मा फैला हुआ है। अनन्त, सान्त एक-दूसरे के साथ मिले-जुले है
इसके विवेक को जाननेवाला ज्ञानी आगे उन्नति करता है।

संसार में मनुष्य सुख और शान्ति चाहता है। विश्व में सुख और शान्ति ला
का सर्वोत्कृष्ट उपाय यह है कि हम अपना सुख अनन्त और अनुपम भगवान् क
अर्पित करें। जितने दर्जे तक हम अपनी एकता, अपना सम्बन्ध उस अनन्त प्रभु
करेंगे, जितने दर्जे तक हम उस ब्रह्माधारा : पने मन में स्थान देंगे उतने द

तक उस महान् शक्तिशाली प्रभु के प्रेम और सौन्दर्य का सम्बन्ध कर शान्तिलाभ करोगे। सचमुच यह बात बहुत ही ठीक है। हम अनन्त से आ रहे हैं। अनन्त में हमारा निवास है और अनन्त की ओर हम जा रहे हैं। इसलिए हे भद्र पुरुषो! सत्यज्ञान के रत्नों का संचय करो, क्योंकि यही तुम्हारी सच्ची निधि है, जो तुम्हारे साथ जानी है। स्वामी सत्यदेव परिव्राजक ने 'अखण्ड शान्ति की अनुभूति' लेख में ठीक ही लिखा है—

यह पवित्र अनन्त विश्वात्मा आनन्द और शान्ति का स्रोत है। ज्योंही हम उसके साथ एकता स्थापित कर लेते हैं, त्योंही शान्ति और एकत्व की धारा का रसास्वादन हमें मिलने लगता है, क्योंकि शान्ति का मतलब ही है—एकत्व की स्थापना करना। एक गम्भीर आन्तरिक अभिप्राय इस सत्य की जड़ में काम कर रहा है। इस सत्य को पहचानना कि हम आत्मा हैं और इसी विचार में निमग्न रहना कि हमें अध्यात्म की ओर मुँह करना है और इस प्रकार एकता और शान्ति का वातावरण पैदा करना है। हमारे इर्द-गिर्द लाखों स्त्री-पुरुष चिन्ता में दुःखी और अशान्त दिखाई पड़ते हैं जो इधर-उधर शान्ति के लिए भटक रहे हैं, और जिनके शरीर और आत्मा थकावट से चूर हैं वे शान्ति की तलाश में दूसरे देशों की यात्रा करते हैं, पृथिवी की प्रदक्षिणा करते हैं, तीर्थों की हवा खाते हैं, हरिद्वार में जाकर डुबकियाँ लगाते हैं, मुक्ति की तलाश में काशी या प्रयाग की धूल फाँकते हैं। किन्तु शोक! उन्हें कभी भी शान्ति नहीं मिलती। मिले भी कैसे? वे तो जहाँ शान्ति है वहाँ जाते ही नहीं। जहाँ शान्ति की छाया तक नहीं, वहाँ तलाश करते हैं। शान्ति केवल आत्मा में मिल सकती है। कठोपनिषद् में शान्ति के लिए नचिकेता को यम ने 'ओ३म्' नाम का चिन्तन और उसको हृदय में लाने का उपदेश दिया है। वहाँ आया है—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति, तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥

—कठोपनिषद् १।२।१२

जिस पद का प्रतिपादन सारे वेद करते हैं, समस्त तप जिसे बतलाते हैं, जिसकी प्राप्ति के लिए ब्रह्मचर्य धारण किया जाता है, संक्षेप में वही पद कहता हूँ। वह है ओ३म्! 'ओ३म्' ईश्वर का निज नाम है। योगी याज्ञवल्क्य ने कहा—"वाच्यः स ईश्वरः प्रोक्तो वाचकः प्रणवः स्मृतः।" प्रणव या ओंकार परमात्मा का प्रति-

दूर नजर मे तेरा दर्शन मिल रहा है।

लोग उस अनन्त भगवान् को खोजने के लिए दूर-दूर भटकते है। कोई मन्दिर, कोई मस्जिद और कोई गिरजाघर में उसे खोजता है। कोई जगल में भटकता है तो कोई पहाड की चोटी पर और कोई गुफाओ मे पाने के लिए दौडता है। गरीबदास कहते है—

सात सरग आसमान पर, भटकता है मन मूढ।
खालिक तो खोया नहीं, इसी महल मे ढूंढ।।

ओ भोंदू, कहाँ भटक रहा है तू स्वर्गों में और सातवें आसमान पर? खालिक की खोज मे क्यों व्यर्थ हैरान हो रहा है? जरा उसे अपने दिल के महल मे तो तलाश!

ऋग्वेद ६।२७।३ मे बतलाया गया है कि परमात्मा की शक्ति, उसकी महिमा, उसका ऐश्वर्य आदि इतना अपार है कि किसी को भी उसका अन्त ज्ञात नहीं हो सकता। वेद का मन्त्र है—

नहि नु ते महिमनः समस्य न मघवन्मघवत्वस्य विद्म।
न राधसो राधसो नूतनस्येन्द्र नकिर्ददृश इन्द्रियं ते।।

हे (मघवन् इन्द्र) धनवान् प्रभो! (ते समस्य महिमनः) तेरी सम्पूर्ण महिमा का (नहि विद्मा) ज्ञान हमे नही है। तेरे (मघवत्वस्य न विद्म) ऐश्वर्य का भी पूर्ण ज्ञान हम नहीं कर सकते। (नूतनस्य राधसो राधसः) तेरी नूतन सिद्धियो का भी हमें ज्ञान नहीं है। (इन्द्र) हे भगवन्! (ते इन्द्रियम्) तेरी शक्तियों का भी (न किः ददर्श) हमे दर्शन नहीं हुआ है।

पूजे देव विहाड़िया, महामई मानै।
परमदेव निरंजना, ताकी सेव न जानै।।

अथर्ववेद १०।७।३८ में कहा गया है—

महद्यक्षं भुवनस्य मध्ये तपसि क्रान्तं सलिलस्य पृष्ठे।
तस्मिञ्छ्रयन्ते उ के च देवा वृक्षस्य स्कन्धः परित इव शाखाः।।

ब्रह्म जो महत् (सबसे बड़ा) और सबका पूज्य है, जो सब लोगों के बीच में विराजमान और उपासना करने योग्य है, जो विज्ञानादि गुणों में सबसे बड़ा है, जो सलिल (आकाश) का आधार है और उसमें व्यापक तथा जगत् के प्रलय के पीछे भी नित्य निर्विकार रहता है। जिसके सहारे तैंतीस देव ठहरे हुए हैं। जैसे कि पृथिवी से प्रथम अंकुर निकलकर सब डालियों का आधार होता है उसी प्रकार जो प्रभु ब्रह्माण्ड का आधार है वही एक परमेश्वर है।

अन्तरिक्ष, द्यौ, चन्द्रमा और नक्षत्रादि आठ वसु हैं। प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान, नाग कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय और आत्मा ये ग्यारह रुद्र हैं। इन सबका आधार वही प्रभु है। वेद में कहा है—

एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः।
स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः।।

—यजुर्वेद ३२।४

वह देव सारे कोणों को घेरे हुए विद्यमान है। वह आदि में था। वही सबके गर्भ में रहता है। वही प्रकट हुआ, वही प्रकट होता रहेगा। हे लोगो! वह सर्वतोमुख होकर तुम्हारे सामने खड़ा है। सचमुच आँखें उठाकर देखिए, प्रकृति का यह जल कितना सौम्य है! प० चमूपति जी ने प्रभु के इस रूप का वर्णन करते हुए लिखा है "आजकल सकल संसार दिव्य है क्योंकि दिव्य दृष्टि से देखा गया है। वस्तु-वस्तु में परमदेव की झलक, अणु-अणु में ईश की चमक दीखती है। सूर्य ज्योति का पुंज है। यह सारा जगत् ब्रह्ममय है। व्यापक आकाश उससे व्याप्त है। दृढ़ पृथिवी उससे सुदृढ़ है। चमकते तारों की वही द्युति, वही सूर्य चन्द्र की ज्योति है। चलतों में उसकी गति, स्थितों में उसकी स्थिति है। वही नेता होकर अग्नि का मार्गदर्शक है। वही रस होकर वरुण का रसवर्धक है। वही तेज होकर सूर्य का सविता (जनक), वही सर्ववित् उपदेशकों का उपदेष्टा। अग्नि को कौन कहता है ऊपर जा और जल को कौन सिखाता है निम्न स्थल की ओर बह? इस सबका नियामक

वही प्रभु है। संसार के सभी ऋषियों और महर्षियों ने उस परम ज्योति का ग
किया है। आइए, हम भी उसको पुकारें, उसका गान करें—

> यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैःस्तवैः
> वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैः गायन्ति यं सामगा।
> ध्यानावस्थित तद्गतेन मनसा, पश्यन्ति यं योगिनो
> यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणाः देवाय तस्मै नमः॥

अन्त में हम इस अनन्य अद्भुत प्रभु से प्रार्थना करते हैं, हे प्राणों के प्राण, मेरे प्राणों को, मेरे जीवन को अपनी स्नेहसुधा से अनुप्राणित कर दो। मेरे प्राणों को अपनी संजीवनी से उज्जीवित कर दो। मेरी इन्द्रियाँ तुम्हारी अर्चना के पुष्प बन जाएँ। मेरे प्राण तुम्हारी पूजा के नैवेद्य हों। इससे मुझे नया जन्म, नई शक्ति नई प्रेरणा प्राप्त हो।

ईश्वर अजन्मा और अनादि है

सत्यार्थप्रकाश के सप्तम समुल्लास में ईश्वर के विषय में प्रश्नकर्ता ने अनेक प्रश्न पूछे हैं और ऋषि दयानन्द ने उनका उत्तर दिया है। उन्हीं प्रश्नों में एक प्रश्न यह भी है कि ईश्वर अवतार लेता है या नहीं? स्वामीजी ने उत्तर दिया है "नहीं, क्योंकि 'अज' 'एकपात्' (३४।५३) 'स पर्यगाच्छुक्रमकायम्' (४०।८) ये यजुर्वेद के वचन हैं। इत्यादि वचनों से सिद्ध है कि परमेश्वर जन्म नहीं लेता।" प्रश्नकर्ता पूछता है—

> यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
> अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
>
> —भ० गी० (अ० ४, श्लोक ७)

श्रीकृष्ण भगवान् कहते हैं कि जब-जब धर्म का लोप होता है, तब-तब मैं शरीर धारण करता हूँ। उत्तर देते हुए स्वामीजी कहते हैं। यह बात वेद-विरुद्ध होने से प्रमाण नहीं। और ऐसा हो सकता है कि श्रीकृष्ण चाहते हों कि मैं युग-युग में जन्म लेके श्रेष्ठों की रक्षा और दुष्टों का नाश करूँ तो कुछ दोष नहीं, क्योंकि 'परोपकाराय सतां विभूतयः' परोपकार के लिए सत्पुरुषों का तन, मन, धन होता

। तथापि इससे श्रीकृष्ण ईश्वर नहीं हो सकते।

प्रश्नकर्त्ता ने पूछा कि यदि परमेश्वर जन्म नहीं लेता है तो कंस, रावणादि दुष्टों का वध कौन करेगा ? स्वामीजी महाराज ने जो उत्तर दिया है, उसका भावार्थ यह है कि जो जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करने का सामर्थ्य रखता है और उनकी उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय करता है उसके सामने कंस, रावणादि एक कीड़ी के समान भी नहीं। वह परमेश्वर तो अनन्त गुण-कर्म और स्वभावयुक्त है। क्या जो जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करता है उसके लिए कंस और रावण को मारना तथा गोवर्धन पर्वत उठाना बड़े कार्य हैं ? इसके अतिरिक्त यदि कोई कहे कि अनन्त आकाश गर्भ में आया या मुट्ठी में भर लिया तो यह कहना सच नहीं हो सकता, क्योंकि आकाश अनन्त और सबमें व्यापक है। इससे न आकाश अन्दर आता है और न बाहर जाता है वैसे ही परमात्मा के अनन्त, सर्वव्यापक होने से उसका आना-जाना कभी सिद्ध नहीं हो सकता। आना-जाना वहाँ हो सकता है, जहाँ न हो। क्या परमेश्वर गर्भ में व्यापक न था जो कहीं से आया ? और बाहर नहीं था जो भीतर से निकला ? ऐसा ईश्वर के विषय में कहना और मानना उचित नहीं। इसलिए परमेश्वर का जाना-आना, जन्म-मरण कभी सिद्ध नहीं हो सकता, इसलिए 'ईसा' आदि भी ईश्वर के अवतार नहीं ऐसा समझना चाहिए। राग, द्वेष, क्षुधा, तृषा, भय, शोक, दुःख-सुख, जन्म-मरण आदि गुण युक्त होने से मनुष्य थे। वेद ने कहा है—

> अजो न क्षां दाधार पृथिवीं तस्तम्भ द्यां मन्त्रेभिः सत्यैः।
> प्रिया पदानि पश्वो नि पाहि विश्वायुरग्ने गुहा गुहं गाः ॥
>
> —ऋ० १।६७।३

(अ) जैसे (सूर्य) [illegible]

(प्रिया पदानि) प्रीतिकारक प्राप्तव्य पदार्थों को देता है (विश्वायुः) सम्पूर्ण आयु देनेवाला (पश्वः) बन्धन से (निपाहि) सर्वथा छुड़ाता है (गुहा) बुद्धि में स्थित हुआ वह (गुहं) गुह्य पदार्थ को (गाः) जानता है, वैसे ही तू भी है (अग्ने) विद्वान् जीव ! हमें प्रमादादि से छुड़ाकर प्राप्तव्य की प्राप्ति करा।

एक अन्य मन्त्र में परमेश्वर को अजन्मा बतलाते हुए कहा गया है—

शन्नो अज एकपाद्देवो अस्तु शं नोऽहिर्बुध्न्यः शं समुद्रः।
शन्नो अपां नपात्पेरुरस्तु शं नः पृश्निर्भवतु देवगोपा॥

—ऋ० ७।३५।१३

र्थात् (एकपात्) एकपात् (अजः) अजन्मा परमेश्वर (नः) हमारे लिए (शं)
ल्याणकारी (अस्तु) हो (बुध्न्यः अहिः नः शम्) अन्तरिक्ष में होनेवाले मेघ
मारे लिए कल्याणकारी हों। (समुद्रः शं) समुद्र सुखदायी हो (नपात् अपां पेरुः)
दरहित होकर जलों को पार करनेवाली अर्थात् नौका आदि (नः शम्) हमारे
लिए सुखकारक हों (देवगोपाः पृश्निः नः शं भवतु) सूर्यादि की रक्षा करनेवाला
न्तरिक्ष हमारे लिए सुखकारी हो।

यह तो विश्वसम्राट् प्रभु के लिए अजन्मा शब्द का प्रयोग हुआ। इसके
तिरिक्त यह समय और स्थान की दृष्टि से भी सादि नहीं अनादि है। अनादि
ब्द का अर्थ है जिसका आदि कोई कारण वा समय न हो। ईश्वर अनादि भी है
जन्मा भी। ईश्वर का अनादित्व प्रकट करते हुए वेद कहता है—

अभ्रातृव्यो अना त्वमनापिरिन्द्र जनुषा सनादसि।
युधेदापित्वमिच्छसे॥

—सा० पू० ४।२।१

(इन्द्र) ऐश्वर्यसम्पन्न प्रभो! (त्वं) तू (अभ्रातृव्यः) शत्रुरहित है अथवा किसी
ा शत्रु नहीं है (अनापिः) किसी का बन्धु नहीं है या बन्धुरहित है (अना) तेरा
ोई नेता नहीं है अथवा तेरा कोई नर=सेवक=नौकर नहीं है अर्थात् तू अपने
ार्यों में किसी की सहायता की अपेक्षा नहीं रखता है (जनुषा सनात् असि) तू
न्म से सनातन है, अर्थात् तू जन्म आदि से रहित अनादि है (युधा इत्) उद्योग से
ा तू (आपित्वं इच्छसे) बन्धुता को स्वीकार करता है।

वयमु त्वामपूर्व्य स्थूरं न कच्चिद् भरन्तोऽवस्यवः।
वज्रिं चित्रं हवामहे॥

—सा० पू० ४।२।१०

(अपूर्व्य) अनादि परमात्मन् (वज्रिन्) पापवारक प्रभो! (अवस्यवः वयम्)
क्षा के अभिलाषी हम सब (त्वाम् उ) तुझ ही (चित्रं) अद्भुत (स्थूरं) अविनाशी
ो (हवामहे) कामना करते हैं (न) जिस प्रकार अन्य रक्षाभिलाषी लोग (कच्चित्

स्यूरं भरन्तः) किसी महापुरुष का आश्रय करते हैं।

इन वेद-मन्त्रों में ईश्वर को अजन्मा और अनादि शब्दों से सम्बोधित किया गया है और बताया गया है यह अजन्मा ईश्वर इतना शक्तिशाली है कि सम्पूर्ण पृथिवी को धारण करता है, प्रीतिकारक प्राप्तव्य पदार्थों को देता है, यह आ देता है, यह हमें बन्धनों से छुड़ाता है और संसार के विचित्र रहस्यों को हमें अपनी प्रेरणा द्वारा सिखलाता है। हम प्रार्थना करते हैं कि मेघ, समुद्र, नौका, भूमि और अन्तरिक्ष के साथ-साथ यह परमेश्वर भी हमारे लिए कल्याणकारी हो। वह परमेश्वर अनादि है, वह सर्वशक्तिशाली है, बिना किसी दूसरे की सहायता के वह अपने सम्पूर्ण कार्यों को करता है।

ईश्वर की हम लोग इसीलिए तो उपासना करते हैं कि वह सर्वशक्तिशाली औ सर्वनियन्ता है। वह सर्वशक्तिशाली और सर्वनियन्ता तभी हो सकता है जब व अजन्मा और अनादि हो। जिसका जन्म होगा उसकी मृत्यु भी होगी, जिसक आदि होगा उसका अन्त भी होगा। यदि हम प्रभु को मरणधर्मा मान लेंगे तं उसके मरने के बाद हमारी कौन सहायता करेगा, कौन हमें हमारे कर्मों वे अनुसार फल देगा? इसी प्रकार यदि परमेश्वर का जन्म होता हो तो उसके जन्म से पहले हमारा कौन रक्षक रहा होगा? इसलिए ईश्वर का न तो जन्म होता और न मरण होता है। वह अनादि और अजन्मा प्रभु हमारे जन्म से पहले रहेगा हमारी सृष्टि से पहले था और वह उसके बाद भी रहेगा अर्थात् उसका औ हमारा सम्बन्ध कभी टूटनेवाला नहीं है। पर कभी-कभी मनुष्य अपने पास रहने वाले व्यक्ति को भी अपने मन से दूर हटा देता है जब वह दूर हटा देता है; त पास रहते हुए भी वह दूर हो जाता है। अनादि और अजन्मा से जब हम सुर की कामना करते हैं उसका मतलब यह है कि हम प्रभु से अपना अटूट सम्बन स्थापित करते हैं। जब हमारा उस प्रभु के साथ इतना गहरा सम्बन्ध स्थापि हो जाता है कि वह हमें चारों ओर और सब कालों में दिखाई देने लगता है तं हमारी कमजोरी, संकीर्णता, भीरुता, सन्देह अपने-आप हमसे विदा हो जा हैं और हमें पूर्ण निर्भयता और शक्ति प्राप्त होती है, जिसका उद्गम परमात्म से है।

यह ध्यान रखने की बात है कि परमात्मा से हम जितना अपना सम्बन स्थापित करेंगे, जितनी उसकी उपासना करेंगे उतना ही हम अपनी आत्मा

प्कार की चिकित्सा का, सुख-समृद्धि का रहस्य है। ऐसा कोई स्थायी संयोग ों, ऐसा कोई स्थायी स्वास्थ्य नहीं, ऐसा कोई स्थायी सुख नहीं जो इस जीवन बाहर हो। यदि हम ज्ञानपूर्वक अनादि-अनन्त प्रभु के जीवन के प्रवाह में अपने रीरिक और मानसिक दिव्य सुख को ठीक तरह स्थिर रख सकें तो यही मनुष्य कल्याण का परम रहस्य है। पूर्वोक्त मन्त्रों का यही भाव है। याद रखो मनुष्य भु के गुणों को धारण कर स्वयं ईश्वरीय सत्ता से अपना सम्बन्ध जोड़ लेता है र वह निर्भय, सुखी और मस्त हो जाता है। इसलिए हमें प्रभु के अनादि और जन्मा रूप की उपासना करने का यत्न करना चाहिए।

ईश्वर न्यायकारी और दयालु है

सत्यार्थप्रकाश के सप्तम समुल्लास में स्वामी दयानन्द जी महाराज ने रमेश्वर दयालु और न्यायकारी है या नहीं ?' इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा —'है।' प्रश्नकर्ता ने पुनः पूछा कि 'ये दोनों गुण परस्पर-विरुद्ध हैं। जो न्याय करे ो दया, और दया करे तो न्याय छूट जाए, क्योंकि न्याय उसको कहते हैं कि जो र्मों के अनुसार न अधिक न न्यून सुख-दुःख पहुँचाना और दया उसको कहते हैं जो अपराधी को बिना दण्ड दिये छोड़ देना।' स्वामीजी ने कहा—"न्याय और दया ा नाममात्र ही भेद है, क्योंकि जो न्याय से प्रयोजन सिद्ध होता है वही दया से। ण्ड देने का प्रयोजन है कि मनुष्य अपराध करने से बन्द होकर दुःखों को प्राप्त न ों। वही दया कहाती है जो पराये के दुःखों को छुड़ाना और जैसा अर्थ दया और याय का तुमने किया वह ठीक नहीं, क्योंकि जिसने जैसा जितना बुरा कर्म किया हो उसको उतना वैसा ही दण्ड देना चाहिए। उसी का नाम न्याय है, और जो अपराधी को दण्ड न दिया जाए तो दया का नाश हो जाए, क्योंकि एक अपराधी डाकू को छोड़ देने से सहस्रों धर्मात्मा पुरुषों को दुःख देना है। जब एक के छोड़ने से सहस्रों मनुष्यों को दुःख प्राप्त होता है तो वह दया किस प्रकार हो सकती है ? दया यही है कि उस डाकू को कारागार में रखकर पाप करने से बचाना डाकू पर, और उस डाकू को मार देने से अन्य सहस्रों पर दया प्रकाशित होती है।"

प्रश्नकर्ता ने पुनः प्रश्न किया, 'फिर दया और न्याय दो शब्द क्यों हुए ? उन

दोनों शब्दों का अर्थ एक ही है तो दो शब्दों का होना व्यर्थ है, इसलिए एक शब्द का रहना तो अच्छा था। इससे पता लगता है कि ये दोनों एक चीज नहीं। स्वामीजी उसी से पूछते हैं कि 'क्या एक नाम के अनेक अर्थ और एक अर्थ के अनेक नाम नहीं होते ? जब एक नाम के अनेक अर्थ और अनेक अर्थों का एक नाम है तो शंका करने की कोई आवश्यकता नहीं। देखो, ईश्वर की पूर्ण दया तो यह है कि जिसने सब जीवों के प्रयोजन सिद्ध होने के अर्थ जगत् में सकल पदार्थ उत्पन्न करके दान दे रखे हैं। इससे भिन्न जगत् में दूसरी बड़ी दया कौन-सी है ? इस न्याय का फल प्रत्यक्ष दीखता है कि सुख-दुःख की व्यवस्था अधिक और न्यूनता से फल को प्रकाशित कर रही है। इन दोनों का इतना ही भेद है कि जो मन में सबको सुख होने और दुःख छूटने की इच्छा और क्रिया करना है वह दया और बाह्य चेष्टा अर्थात् बन्धन-छेदनादि यथावत् दण्ड देना न्याय कहाता है। दोनों का एक प्रयोजन यह है कि सबको पाप और दुःखों से पृथक् कर देना।'

स्वामीजी महाराज ने न्याय और दया का विश्लेषण करने के बाद अत्यन्त सुन्दर रूप में उसका प्रयोजन बतलाया है। वेद भी ईश्वर को न्यायकारी और दयालु मानता है और कहता है—

> वधैर्दुःशंसाँ अप दूढ्यो जहि दूरे वा ये अन्ति वा के चिदत्रिणः।
> अथा यज्ञाय गृणते सुगं कृध्यग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव॥
>
> —ऋ० १।९४।

हे (अग्ने) तेजस्वी प्रभो ! (वधैः) वध के साधनभूत शस्त्रों से (दुःशंसान्) दुष्ट (दूढ्यः) दुर्बुद्धिवालों को (अपजहि) ताड़नाओं के द्वारा मार अर्थात् सन्मार्ग दिखा। (दूरे) जो दूर हैं (वा ये) या जो (अन्ति वा) पास हैं तथा (केचित्) जो कोई (अत्रिणः) सर्वभक्षण करनेवाले अर्थात् स्वार्थी हैं उनका हनन कर। (अथा) और (यज्ञाय) यज्ञ करनेवाले (गृणते) स्तोता को (सुगं कृधि) सुखी कर। हे प्रभो ! (तव) तेरी (सख्ये) मित्रता में (वयं मा रिषाम) हम नष्ट न हों।

परमेश्वर दुष्टों को उनके दुष्ट कर्मों का दण्ड देता है और सज्जनों को सुख देता है। दुष्टों को दण्ड देकर उन्हें सुमार्ग पर लाना उसका उद्देश्य है।

परमात्मा सर्वशक्तिमान् है। इसलिए वह जानता है कि कौन क्या कर्म कर रहा है और उसे क्या दण्ड देना चाहिए। वह अपनी सर्वज्ञता से सबके अपराधों को जानकर उसके अनुकूल न्याय करता और भले-बुरे कर्मों का फल देता है। वेद के

एक मन्त्र में इस बात को स्पष्ट करते हुए बतलाया गया है—

वि जानीह्यार्यान्ये च दस्यवो बर्हिष्मते रन्धया शासदव्रतान्।
शाकी भव यजमानस्य चोदिता विश्वेत्ता ते सधमादेषु चाकन ॥

—ऋ० १।५१।८

हे प्रभो ! (आर्यान् विजानीहि, च ये दस्यवः) तू आर्यों=श्रेष्ठ कार्य करनेवाले मनुष्यों को जानता है और जो दस्यु=दुष्ट कार्य करनेवाले लोग हैं उनको जानता है, अतएव तू (बर्हिष्मते) पूजादि सत्यकर्म करनेवाले को (रन्धय) सिद्धियुक्त करता है, और (अव्रतान् शासत्) अव्रतों=पापियों को दण्ड के द्वारा शिक्षा देता है, (शाकी भव) तू ही शक्तिशाली है और (यजमानस्य चोदिता) यज्ञादि कर्म करनेवाले को सत्कर्म में प्रेरित करता है (ते सधमादेषु ता विश्वा इत् चाकन) तेरे सदृश आनन्दभोग के निमित्त मैं उन सभी सुकर्मों को चाहता हूँ।

सर्वज्ञ और सर्वद्रष्टा होने से परमेश्वर सबके गुण और दोषों को जानता है और वह उनके अनुसार मनुष्य को दण्ड देता है तथा उसे सुखी करता है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए निम्न मन्त्र में कहा गया है—

यदंग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि।
तवेत्तत्सत्यमंगिरः ॥

—ऋ० १।१।६

हे (अंगिरः) प्राणों-के-प्राण (अंग) परम प्यारे (अग्ने) सर्वज्ञ प्रभो ! (यत्) जो (त्वं) तू (दाशुषे) दानशील के प्रति, फलस्वरूप (भद्र) भलाई, कल्याण (करिष्यसि) करता है। (तत्) वह (तव) तेरा (सत्य इत्) अटल नियम है।

अर्थात् परमेश्वर का यह अटल नियम है कि जो मनुष्य जैसा करेगा, उसे वैसा फल मिलकर रहेगा। कहने का तात्पर्य यह है कि अनेक सम्प्रदायों और मतों में पापों को परमेश्वर क्षमा कर देता है, यह मानकर अनेक आडम्बरों का विधान किया गया है। पौराणिकों की इस विषय में मान्यता है कि चाहे आप जीवन-भर लूट-खसोट, व्यभिचार, चोरी, कालाबाजारी और घूस लेते रहिए, निर्धनों, निर्बलों और गरीबों को सताते रहिए, मरते समय या किसी निश्चित दिन गंगाजी में डुबकी लगा लीजिए या गंगाजल पी लीजिए, तो पापों से छुटकारा हो जाएगा। मुसलमानों में 'हज्जयात्रा' और वहाँ जाकर 'संगे अस्वद' नामक पत्थर को चूमने से पापों के क्षमा हो जाने की मान्यता है। ईसाई मत का पोप तो रोम में पापों को

उत्पन्न होगा, ग्रतः इस मन्त्र में यह भी बतला दिया गया है कि वह परमेश्वर प्रजायमानः = उत्पन्न न होनेवाला = ग्रजन्मा है, वह जड और चेतन सबके भीतर ता है। मन्त्र है—

प्रजापतिश्चरति गर्भे ग्रन्तरजायमानो बहुधा विजायते।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥
—यजुर्वेद ३१।१६

(प्रजापतिः ग्रजायमानः गर्भे ग्रन्तः चरति) सम्पूर्ण का स्वामी प्रभु ग्रजन्मा है और व चेतन और जड पदार्थों के ग्रन्दर विद्यमान है। (बहुधा विजायते) नाना प्रकार र जगत् उसी के सामर्थ्य से उत्पन्न होता है। (धीराः तस्य योनिं परि पश्यन्ति) र जन उसकी प्राप्ति के साधनों का भली प्रकार विचार करते हैं ग्रथवा बुद्धि-न् लोग इस जगत् का कारण उसी ब्रह्म को जानते हैं (तस्मिन् ह विश्वा वनानि तस्थुः) उसी में सारे लोक-लोकान्तर रहते हैं।

इस ग्रन्तर्यामी परमात्मा को विद्वानों ने सनातन या नित्य माना है। नित्य ने के कारण वह उत्पन्न होनेवाली वस्तु में प्रारम्भ से ही—यहाँ तक कि उससे र्व से ही विद्यमान रहता है। वेद ने भी इसका प्रतिपादन किया है और कहा है—

भोग्यो भवदथो ग्रन्नमदद् बहु।
यो देवमुत्तरावन्तमुपासातै सनातनम्॥

इस पुरातन नित्य, सनातन प्रभु की उपासना का उल्लेख [illegible] करता है—

अस्मा इदु प्रय इव प्र यंसि भराम्याङ्गूषं बाधे सुवृक्ति।
इन्द्राय हृदा मनसा मनीषा प्रत्नाय पत्ये धियो मर्जयन्त॥
—ऋ० १।६१।२

(अस्मै इत् उ) इसी (इन्द्राय) प्रभु के लिए (बाधे) शत्रु का हनन करने के लिए (सुवृक्ति आङ्गूषं) उत्तम भावनापूर्ण स्तवन (भरामि) करता हूँ और (प्रय इव) अन्न के समान (प्रयंसि) उसको हृदय में धारण करता हूँ। सब उपासक (धियो मर्जयन्त) अपनी बुद्धियों को शुद्ध करते हुए (हृदा) हृदय (मनसा) मन से (मनीषा) बुद्धि से (प्रत्नाय पत्ये) पुरातन = नित्य = सनातन स्वामी प्रभु के लिए अपने शब्द अर्पण करते हैं।

मनुष्य की प्रार्थना तब सुनी जाती है जब वह शुद्धभाव और पवित्र मनोवृत्ति से की जाती है। वह परमेश्वर स्वयं पवित्र है और पवित्रता, शुद्धता को पसन्द करता है, इसीलिए ऋग्वेद ८।९५।७ में कहा गया है कि सब लोग आओ, हम शुद्ध साम से (शुद्धं इन्द्रं नु स्तवाम) पवित्र परमात्मा की स्तुति करें और शुद्ध वचनों से अथवा ऋचाओं के द्वारा दोषरहित भगवान् की स्तुति करें। वह पवित्र तथा आश्रयदाता सबको सुख देता है। मन्त्र है—

एतो न्विन्द्रं स्तवाम शुद्धं शुद्धेन साम्ना।
शुद्धैरुक्थैर्वावृध्वांसं शुद्ध आशीर्वान्ममत्तु॥
—ऋ० ८।९५।७

अगले मन्त्र में कहा गया है—

इन्द्र शुद्धो न आ गहि शुद्धः शुद्धाभिरूतिभिः।
शुद्धो रयिं नि धारय शुद्धो ममद्धि सोम्य॥
—ऋ० ८।९५।८

अखण्ड ऐश्वर्यसम्पन्न प्रभो! पवित्र रक्षाओं के द्वारा शोधक और स्वयं पवित्र तू हमें सब प्रकार से प्राप्त हो। तू शुद्ध धन देता है और पवित्र तथा सौम्य तू हम सबको आनन्दित करता है।

एष सूर्यमरोचयत् पवमानो विचर्षणिः।
विश्वा धामानि विश्ववित्॥ —ऋ० ९।२८।५

अर्थात् यह सर्वज्ञ पवित्र प्रभु सूर्य को प्रकाशित करता है, और वही सर्वव्यापक, सबसे विचार करने योग्य प्रभु सम्पूर्ण तेजस्वी पदार्थों को प्रकाशयुक्त करता है।

एक अन्य मन्त्र में कहा गया है—

विश्वो यस्य व्रते जनो दाधार धर्मणस्पतेः।
पुनानस्य प्रभूवसोः॥

—ऋ० ९।३५।६

अर्थात् जिस प्रभूत ऐश्वर्य-सम्पन्न (पुनानस्य) पवित्र (धर्मणः पतेः) नियमपालक प्रभु के (व्रते) नियम में या व्रत में (विश्वः जनः) सारा संसार (दाधार) अपनी सत्ता धारण कर रहा है, उस पवित्र परमात्मा की भक्ति से अपने मन, वाक्, काम को पवित्र करना चाहिए।

इस प्रकार ऊपर के मन्त्रों में परमेश्वर को अन्तर्यामी, सनातन और पवित्र बताकर उसकी उपासना करने का उपदेश दिया है। मनुष्य बैठकर राम का नाम लेता है, ओ३म् का जप करता है, परन्तु यदि उसका मन पवित्र नहीं और उसने अन्तर्यामी भगवान् के वास्तविक स्वरूप को समझा नहीं तो उसकी यह प्रार्थना बेकार है। जब हमारा मन किसी की श्रद्धा और भक्ति में लग जाता है तब हमें उसके सिवाय किसी का ध्यान नहीं रहता।

अकबर बादशाह एक बार नमाज का वस्त्र बिछाकर नमाज पढ़ने लगे। इतने में एक स्त्री अपनी चिन्ता में डूबी हुई अपने पति को खोजते हुए इधर-उधर दृष्टि डालती चली आ रही थी। उसे बादशाह का जमीन पर बिछा हुआ कपड़ा दिखाई नहीं दिया, और वह उस पर पैर रखती आगे बढ़ गई। बादशाह को क्रोध तो आया पर वे उस समय नमाज पढ़ रहे थे, अतः कुछ बोले नहीं। थोड़ी देर बाद वह अपने पति के साथ लौट रही थी। बादशाह नमाज पढ़ चुके थे। उन्होंने उसे रोका और बोले "तुझे दीखा नहीं—मैं नमाज में था' प्रभुभक्ति में था। जाएनमाज भी तुझे दिखाई नहीं दिया? पग रखती चली गई? मैं दिल्ली का बादशाह हूँ।"

युवती ने सब सुना और बोली "अरे बादशाह! तुम क्या नमाज पढ़ रहे थे? नमाज का मतलब है अपने प्रियतम की खोज। मैं भी अपने प्रियतम की खोज में जा रही थी। मुझे जाएनमाज नहीं दीखा। मुझे तो केवल मेरा प्रियतम ही सूझ रहा था। तुम्हें मैं कैसे दिखाई पड़ गई?"

ह्म सत्य (सत्) ज्ञान (चित्) और आनन्दरूप है अर्थात् वह सच्चिदानन्दस्वरूप है। इस प्रकार सब गुणों का तीन ही गुणों में समावेश करके वर्णन किया गया है। अनेक स्थानों पर परमेश्वर के परस्पर-विरुद्ध गुणों को एक करके ब्रह्म का वर्णन इस प्रकार किया गया है कि ब्रह्म अणु से भी छोटा और बड़े से भी बड़ा है। 'अणोरणीयान्महतो महीयान्' (कठो०२।२०), 'तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके' अर्थात् वह हिलता है और हिलता भी नहीं, वह दूर है और समीप भी है। (ईश० ५) अथवा 'सर्वेन्द्रियगुणाभासं' होकर भी 'सर्वेन्द्रियविवर्जितं' (श्वेता० ३।१७) है। मृत्यु ने नचिकेता को कहा है प्रभु के सब लक्षणों को छोड़ दो और जो धर्म-अधर्म, कृत-अकृत और भूत-भव्य के परे हो उसे ही ब्रह्म जानो (कठ० २।१४), नामरूपात्मक मूर्त या अमूर्त पदार्थों के परे जो अदृश्य या अवर्णनीय है उसे ही परब्रह्म समझो (बृहद् २।३।६) अधिक क्या कहें, जिन पदार्थों का कुछ नाम दिया जा सकता है, उन सबसे भी परे जो है, वही ब्रह्म है और ब्रह्म का अव्यक्त, निर्गुण, निराकार स्वरूप दिखलाने के लिए 'नेति नेति' एक छोटा-सा निर्देश, आदेश या सूत्र ही हो गया है। बृहदारण्यकोपनिषद् में उसका बार-बार प्रयोग हुआ है (बृ० ३।९।२६, ४।२।४, ४।२२।४, ४।४।५)। इसी प्रकार दूसरी उपनिषदों में भी परब्रह्म के निर्गुण, निराकार, अचिन्त्य रूप का वर्णन पाया जाता है। 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' (तैत्ति० २।९), अद्रेश्यं (अदृश्य), ग्राह्यम् (मु० १।१।६) 'न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा' न आँख से, न वाणी से ग्रहण किया जा सकता है। अथवा—

> अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
> अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते।।

परब्रह्म परमेश्वर पञ्चमहाभूतों के शब्द, स्पर्श रूप, रस और गन्ध—इन पाँच गुणों से रहित, अनादि, अनन्त और अव्यय है। (कठोपनिषद् ३।१५)

यद्यपि परमेश्वर निराकार, अदृश्य, निर्गुण है परन्तु प्रत्यक्ष और अनुमानादि प्रमाणों से परमेश्वर की सत्ता है ही। देखनेवालों को वह परमेश्वर सर्वत्र दिखाई देता है। जरा निगाह उठाओ उसकी पताकाएँ दिखाई देंगी जो उसकी ओर संकेत कर रही होंगी।

फूल की पंखुड़ियों में, तितली के पंखों में, परिन्दों के परों में, बादलों में, इन्द्रधनुष में, प्रभात की ऊषा में, सन्ध्या की छिटकती लाली में वही चित्रकार बैठा

नि स्वार्थता की भावना होनी चाहिए। मैं आगे कहूँगा कि यदि आप अन्तर्
सात्त्विक और पवित्र प्रभु के प्रेम में अपने को प्रभावित करना चाहते हैं तो
केवल अच्छी बातें ही मुख से निकालें, अच्छी बातें ही देखें-सुनें और सोचें।
को प्राप्त करने के लिए सरल, निष्कपट और शक्तिशाली बनिये। सफलता
पहुँचने की राह न सीधी है, न समतल। सफलता प्राप्त करने के लिए निर
इच्छाशक्ति, हिम्मत और श्रम चाहिए। वह मनुष्य जो बढ़कर परिश्रम से
करता है, उसमें एक स्वाभाविक आकर्षण होता है—ऐसे बहादुर की आत्मा
हो जाती है, उसकी आत्मा पवित्र बन जाती है, ऐसे व्यक्ति के समीप प्रभु
हैं और ऐसे ही प्रभुभक्त, बहादुर, सरल और श्रमी व्यक्ति को संसार
करता है, लोग उसके पास खिंचे चले आते हैं। संसार को सुख दे जानेवाले
व्यक्तियों का जीवन सरल, निष्कपट और पवित्र रहा है।

घट-घट व्यापक 'ओ३म्'

'ओ३म्' परमात्मा का मुख्य नाम है। हम इस 'ओ३म्' या प्रभु के नि
निकट होंगे उतनी ही हमारी शक्तियाँ बढ़ेंगी। यदि हम उसके साथ अपनी ए
का अनुभव कर लें तो हमारे जीवन में नया उल्लास, नया उत्साह व शक्ति
जाएगी। वास्तव में विश्व में एक ही तत्त्व काम कर रहा है, एक ही जीवन,
ही सत्य वर्तमान है। हम सब उस दैवीय प्रवाह की ओर जा रहे हैं जो ईश्वर
जाता है। यह भावना हममें एक अलौकिक प्रोत्साहन देती है जिससे हमारे मान
दुःख और भय दूर हो जाते हैं। क्यों दूर होते हैं? उस समय हम परमतत्त्व
से, प्रभु से अपना सम्बन्ध समझने लगते हैं और उसकी उपासना हममें तथा उ
एकता की स्थापना करती है और इस अनुभूति से हमारा जीवन एक
अलौकिकता से परिपूर्ण हो जाता है, महान् आनन्द, महान् सन्तोष से भर जाता

इस प्रभु की व्यापकता और उससे एकता समझने से पूर्व हमारे मन में
स्वाभाविक इच्छा उत्पन्न होती है कि 'यह ब्रह्म है क्या?' इस ब्रह्म का अनेक
में लक्षण किया गया है। 'तैत्तिरीयोपनिषद्' में उसे "सत्यं ज्ञानमनन्त ब्रह्म"
... में 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' कहा है

ब्रह्म सत्य (सत्) ज्ञान (चित्) और आनन्दरूप है अर्थात् वह सच्चिदानन्दस्वरूप है। इस प्रकार सब गुणों का तीन ही गुणों में समावेश करके वर्णन किया गया है। अनेक स्थानों पर परमेश्वर के परस्पर-विरुद्ध गुणों को एक करके ब्रह्म का वर्णन इस प्रकार किया गया है कि ब्रह्म अणु से भी छोटा और बड़े से भी बड़ा है। 'अणोरणीयान्महतो महीयान्' (कठो०२।२०), 'तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके' अर्थात् वह हिलता है और हिलता भी नहीं, वह दूर है और समीप भी है। (ईश० ५) अथवा 'सर्वेन्द्रियगुणाभासं' होकर भी 'सर्वेन्द्रियविवर्जितं' (श्वेता० ३।१७) है। मृत्यु ने नचिकेता को कहा है प्रभु के सब लक्षणों को छोड़ दो और जो धर्म-अधर्म, कृत-अकृत और भूत-भव्य के परे हो उसे ही ब्रह्म जानो (कठ० २।१४), नामरूपात्मक मूर्त या अमूर्त पदार्थों के परे जो अदृश्य या अवर्णनीय है उसे ही परब्रह्म समझो (बृहद् २।३।६) अधिक क्या कहें, जिन पदार्थों का कुछ नाम दिया जा सकता है, उन सबसे भी परे जो है, वही ब्रह्म है और ब्रह्म का अव्यक्त, निर्गुण, निराकार स्वरूप दिखलाने के लिए 'नेति नेति' एक छोटा-सा निर्देश, आदेश या सूत्र ही हो गया है। बृहदारण्यकोपनिषद् में उसका बार-बार प्रयोग हुआ है (बृ० ३।६।२६, ४।२।४, ४।२२।४, ४।४।५)। इसी प्रकार दूसरी उपनिषदों में भी परब्रह्म के निर्गुण, निराकार, अचिन्त्य रूप का वर्णन पाया जाता है, जैसे 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' (तैत्ति० २।६), अद्रेश्य (अदृश्य), ग्राह्यम् (मु० १।१।६) 'न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा' न आँख से, न वाणी से ग्रहण किया जा सकता है। अथवा—

> अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
> अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते॥

ह परब्रह्म परमेश्वर पञ्चमहाभूतों के शब्द, स्पर्श रूप, रस और गन्ध—इन पाँच णों से रहित, अनादि, अनन्त और अव्यय है। (कठोपनिषद् ३।१५)

यद्यपि परमेश्वर निराकार, अदृश्य, निर्गुण है परन्तु प्रत्यक्ष और अनुमानादि माणों से परमेश्वर की सत्ता है ही। देखनेवालों को यह परमेश्वर सर्वत्र दिखाई गा। जरा निगाह उठाओ उसकी पताकाएँ दिखाई देंगी जो उसकी ओर संकेत र रही होंगी।

" फूल की पखुड़ियों में, तितली के पंखों में, परिन्दों के परों में, बादलों में, इन्द्र-नुष में, प्रभात की ऊषा में, संध्या की छिटकती लाली में वही चित्रकार बैठा

अपनी तूलिका से नाना प्रकार के रंग भर रहा है। पवन के झकोरों में, झरनों की झर-झर में, बादलों के गर्जन में, पक्षियों के कलरव में, प्रपातों की झंकार में, मयूरों के नर्तन में, कोयल की कू-कू में, पपीहे की पी-पी में, नदियों की कलकल में वही गवैया बैठा अपने संगीत की सुरीली तान छेड़ रहा है।

ऊषा में किसकी छवि मुस्करा रही है? श्यामल मेघों में किसका स्निग्ध केशपाश लहरा उठता है? मन्द-मन्द बहते मलयानिल में किसका सौरभ-भरा उच्छ्वास है? धान के बहुरंगी खेतों में किसका हरित अंचल लहरा रहा है? रवि-शशि किसके लोल कुण्डल हैं? इन्द्रधनुष किस चितचोर का जादूभरा स्मित है? पृथिवी किसका पग है? अन्तरिक्ष किसका उदर है? द्युलोक किसका विशाल भाल है? रोज सवेरे सैंकड़ों मील दूर से चलकर आलोकदूत किसका सन्देश कलियों के कान में कहने पुष्पों की क्यारियों में आ पहुँचता है और किस सन्देश को सुनकर कलियाँ अपना सुकुमार घूँघट उठाकर सत्वर झाँकने लगती हैं?

आसमान में टिमटिमाते तारों की दीपमाला उसी का स्वागत कर रही है। वृक्षों की मधुर गुहरानियाँ किसकी महिमा जता रही हैं? ऊँचे खड़े पहाड़ों की गगनचुम्बी चोटियाँ किसकी ऊँचाई पाने के लिए उछल रही हैं? अगाध समुद्र की अचिन्तनीय गहराई किसका गाम्भीर्य प्रकट कर रही है। पत्ते-पत्ते की विचित्र रचना में उसी शिल्पी की शिल्पकला का चमत्कार है। सूर्य का उष्ण प्रकाश और चन्द्र की शीतल चाँदनी उसी वैज्ञानिक का आविष्कार है। सूर्य के प्रकाश में, चन्द्र की चाँदनी में, तारों की टिमटिमाती ज्योति में, विद्युत् की चमक में, अग्नि के तेज में, प्रभात की लाल ऊषा में, सन्ध्या की रंगीली छटा में उसी ज्योतिस्वरूप की ज्योति जगमगा रही है। इस सम्पूर्ण विश्व में वह प्रभु ही प्रभु विद्यमान है। सभी शक्तियाँ उसी की खोज में हैं। तभी तो 'प्रसादजी' ने कहा है—

> महानील इस परम व्योम में अन्तरिक्ष में ज्योतिर्मान।
> ग्रह नक्षत्र और विद्युत्कण किसका करते थे सन्धान?

अन्त में वे कहते हैं—

> हे विराट्! हे विश्वदेव!
> तुम कुछ हो ऐसा होता भान।

मनुष्य उस प्रभु को प्राप्त करना तो चाहते हैं, परन्तु इस सर्वव्यापक को खोजने के लिए इधर-उधर भटकते रहते हैं। उसके लिए दूर जाने की आवश्यकता

नहीं। वह प्रभु सर्वत्र व्यापक है तो आत्मा में तो होगा ही, अत: नानक ने कहा है—

काहे रे वन खोजन जाई
सर्व निवासी सदा अलेपा, तोही संग समाई।
पुष्प मध्य ज्यों बास बसत है, मुकुर मध्य ज्यों छाई।
वैसे ही हरि बसै निरन्तर, घट ही खोजो भाई॥

और जब परमेश्वर के घट-घट व्यापक रूप को हम जान लेंगे तो उस समय अपने और पराये का भेद मिट जाएगा, शत्रु और मित्र की समस्या हल हो जाएगी। सन्त कवि हरिदास कहते हैं—

अब हों कासों बैर करौं?
कहत पुकारि प्रभु निज मुख से,
घट घट हौं विहरौं।

अहो अब मैं किससे बैर करूँ, जबकि मेरे प्रभु खुद पुकार-पुकारकर कह रहे हैं कि "घट-घट में मैं ही विहार कर रहा हूँ।"

ईशोपनिषद् या यजुर्वेद के ४०वें अध्याय में कहा गया है—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

इस ब्रह्माण्ड में जो जगत् है वह सब ईश्वर के निवास करने योग्य है, ईश्वर इसके अणु-अणु और कण-कण में विद्यमान है। ईश्वर इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में साधिकार बसा हुआ है। कैसे? 'सूत्रे मणिगणा इव' जैसे धागे में मणियाँ गुँथी हुई होती हैं। वेद में कहा है 'स ओतःप्रोतश्च विभुः प्रजासु' (यजु० ३२।८) वह परमात्मा सभी प्रजाओं में ताने-बाने के समान ओत-प्रोत है।

किसी उर्दू के कवि ने लिखा है—

तू हर जर्रे में निहां है, जहाँ तुझमें समाया है।
मुकर्रर इक जगह या रब तू हरगिज हो नहीं सकता॥

ईश्वर की सर्वव्यापकता के विषय में मुण्डकोपनिषद् कहती है—

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्॥

यह अमृतरूप ब्रह्म ही आगे है, वही पीछे है, वही दाहिनी ओर है और वही बाईं ओर है। वही नीचे और ऊपर फैला हुआ है। यह सारा विश्व ब्रह्म से ओत-प्रोत है। जो कुछ श्रेष्ठतम है, वह ब्रह्म का प्रकाश है।

वेद में कहा है—

सविता पश्चात् सविता पुरस्तात्सवितोत्तरात्तात्सवित

सविता नः सुवतु सर्वताति सविता नो रासतां

सर्वोत्पादक परमात्मा पीछे की ओर है और आगे की ओर भी

ऊपर की ओर है और वही नीचे भी है। वह सर्वप्रेरक और

इष्ट पदार्थ और दीर्घ जीवन प्रदान करें।

विश्वतश्चक्षुरुतविश्वतोमुखो विश्वतो बाहुरुत वि

सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्

उस परमात्मा की सब ओर आँखें हैं, सब ओर मुख हैं, सब

सब ओर पैर हैं। वह देव क्रियाशील परमाणु आदि से मू

कार्यरूप में प्रकट करता हुआ अनन्त बल-पराक्रम से सब

है। तुलसीदास कहते हैं—

हरि व्यापक सर्वत्र समाना।

प्रेम ते प्रकट होइ मैं जाना॥

ईश्वर की सर्वव्यापकता से क्या लाभ है ? वेद व्यास कहते

एकोऽहमस्मीति च मन्यसे त्वं न हृच्छयं वेत्सि

यो वेदिता कर्मणः पापकस्य तस्यान्तिके त्वं

मैं अकेला हूँ तू ऐसा मानता है, हृदय में निवास करनेवा

जानता। वे प्रभु तो तेरे सब पापकर्मों को जानते हैं। प

करता है ?

यज्ञ के प्रारम्भ के मन्त्रों में उपासक कहता है—

अमृतोपस्तरणमसि।

ईश्वर हमारे नीचे का बिस्तरा है।

अमृतापिधानमसि।

प्रभु हमारे ऊपर का ओढ़ना है।

जब इस प्रभु की व्यापकता का हम वास्तव में सब

हम सभी पापों और वैर तथा द्वेष से बच जाते हैं। गीत

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। —गीता ६।२९
सारे प्राणी मुझमें हैं और मैं सबमें हूँ।

ईशोपनिषद् भी इसी बात को कहती है—

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥

जो व्यक्ति सब प्राणियों को अपने में और अपने को सबमें समझता है वह किसी से घृणा नहीं कर सकता। जब हम परमेश्वर को सर्वव्यापक समझेंगे उस समय अपराधों का दण्ड पाने से बचने की प्रवृत्ति का अन्त हो जाएगा और 'दादूदयाल' की भाँति हम भी कहेंगे—

गुनहगार अपराधी तेरे भाजि कहाँ हम जाँहि।
'दादू' देख्या सोधि सब तुम बिन कहि न समाँहि॥

तेरे गुनहगार भागें तो आखिर भागकर जाएँ कहाँ? छिपने के तो सारे ठौर खोज डाले सरकार! पर, जहाँ भी गये वहाँ तुझे मौजूद पाया। दादूदयाल ने परमेश्वर की सर्वव्यापकता का वर्णन करते हुए लिखा है—

दादू देखौं दयाल को, सकल रह्या भरपूर।
रोम रोम में रमि रह्या, तू जिनि जाणैं दूर॥

अपने दयालु मालिक को मैं हर जगह मौजूद पाता हूँ, मेरा प्रभु रोम-रोम में रम रहा है। मत समझ कि मेरा स्वामी मुझसे दूर है।

गरीबदास को सर्वत्र प्रभु के दर्शन हो रहे हैं—

साहब तेरी साहिबी, क्या कहूँ करतार,
पलक पलक की बीधि में, पूरन ब्रह्म हमार।

कबीर ने भी प्रत्येक स्थान पर प्रभु के दर्शन करते हुए कहा है—

सब घट मेरा साइयाँ, सूनी सेज न कोई,
वा घट की बलिहारियाँ, जा घट परगट होई।

आगे वे कहते हैं—

पावक रूपी साँइयाँ, सब घट रह्या समाई,
चित चकमक लागै नहीं, ताते बुझ बुझ जाई।

मेरा स्वामी आग की भाँति संसार के प्रत्येक रूप में समाया हुआ है। पर लगन के चकमक से चित्त लगे तब न! इसी से तो मेरी यह लौ बुझ-बुझ जाती है।

यो अग्नौ रुद्रो यो अप्स्वन्तर्य ओषधीर्वीरुध आविवेश।
य इमा विश्वा भुवनानि चाक्लृपे तस्मै रुद्राय नमो अस्त्वग्नये ॥

—अ० ७।८७।१

जो रुद्र अग्नि में, जो जल में और जो ओषधियों और (वीरुधः) वनस्पतियों में (आविवेश) व्यापक है। (यः) जो (इमाः विश्वा भुवनानि) इन सब भुवनों को (चाक्लृपे) रचता है (तस्मै अग्नये रुद्राय नमः अस्तु) उस अग्निरूप रुद्र के लिए मेरा नमस्कार है।

इसमें रुद्र की व्यापकता का उल्लेख किया गया है। रुद्र परमात्मा को इसलिए कहते हैं कि वह दुष्टों को रुलाता है।

वह दिव्य परमात्मा सब दिशा-उपदिशाओं में पूर्णतया व्यापक है। वह सबसे प्राचीन, सबसे प्रसिद्ध और सर्वत्र विद्यमान है। वह सबके बीच में व्यापक है। वह जैसा इस समय सर्वत्र उपस्थित है, वैसा ही आगे भी रहेगा। वह मुख आदि अवयवों की शक्तियों को, प्रत्येक पदार्थ में व्यापक रहता हुआ, धारण करता है।

यजुर्वेद ३२।४ में आया है —

एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः।
स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः ॥

—य० ३२।४

(ह) निश्चय से (एषः देवः) यह देव अर्थात् दिव्य परमात्मा (सर्वाः प्रदिशः) सब दिशाओं-उपदिशाओं में (अनु) साथ-साथ रहता है। (स ह:) वह निश्चय से (पूर्वः) प्राचीन और (जातः) प्रसिद्ध है (स उ) वह निश्चय से (गर्भे अन्तः) सबके बीच में है (सः एव जातः) वह निकट ही है और निश्चय से (सः) वह ही सदा (जनिष्यमाणः) निकट रहेगा। हे (जनाः) लोगो, वह परमात्मा (सर्वतः मुखः) सर्वत्र मुख आदि अवयवों की शक्ति को धारण करनेवाला (प्रत्यङ्) प्रत्येक पदार्थ में (तिष्ठति) रहता है।

वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहासद् यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्।
तस्मिन्निदं सं च वि चैति सर्वं स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु ॥

—य० ३२।८

(वेनः) ज्ञानी मनुष्य (सत्) उस (गुहानिहितं) गुप्तस्थान में अथवा बुद्धि में रहनेवाले तथा (सत्) त्रिकालाबाधित नित्य ब्रह्म को (पश्यत्) देखता है (यत्र) जिस

यो अग्नौ रुद्रो यो अप्स्वन्तर्य ओषधीर्वीरुध आविवेश।
य इमा विश्वा भुवनानि चाक्लृपे तस्मै रुद्राय नमो अस्त्वग्नये ॥

—अ० ७।८७।१

जो रुद्र अग्नि में, जो जल में और जो ओषधियों और (वीरुधः) वनस्पतियों में (आविवेश) व्यापक है। (यः) जो (इमा विश्वा भुवनानि) इन सब भुवनों को (चाक्लृपे) रचता है (तस्मै अग्नये रुद्राय नमः अस्तु) उस अग्निरूप रुद्र के लिए मेरा नमस्कार है।

इसमें रुद्र की व्यापकता का उल्लेख किया गया है। रुद्र परमात्मा को इसलिए कहते हैं कि वह दुष्टों को रुलाता है।

वह दिव्य परमात्मा सब दिशा-उपदिशाओं में पूर्णतया व्यापक है। वह सबसे प्राचीन, सबसे प्रसिद्ध और सर्वत्र विद्यमान है। वह सबके बीच में व्यापक है। वह जैसा इस समय सर्वत्र उपस्थित है, वैसा ही आगे भी रहेगा। वह मुख आदि अवयवों की शक्तियों को, प्रत्येक पदार्थ में व्यापक रहता हुआ, धारण करता है।

यजुर्वेद ३२।४ में आया है —

एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः।
स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः ॥

—य० ३२।४

(ह) निश्चय से (एषः देवः) यह देव अर्थात् दिव्य परमात्मा (सर्वाः प्रदिशः) सब दिशाओं-उपदिशाओं में (अनु) साथ-साथ रहता है। (स ह) वह निश्चय से (पूर्वः) प्राचीन और (जातः) प्रसिद्ध है (स उ) वह निश्चय से (गर्भे अन्तः) सबके बीच में है (स एव जातः) वह निकट ही है और निश्चय से (स) वह ही सदा (जनिष्यमाणः) निकट रहेगा। हे (जनाः) लोगो, वह परमात्मा (सर्वतः मुखः) सर्वत्र मुख आदि अवयवों की शक्ति को धारण करनेवाला (प्रत्यङ्) प्रत्येक पदार्थ में (तिष्ठति) रहता है।

वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहासद् यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्।
तस्मिन्निदं सञ्च वि चैति सर्वं स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु ॥

—य० ३२।८

(वेन) ज्ञानी मनुष्य (तत्) उस (गुहानिहितं) गुप्तस्थान में अथवा बुद्धि में रहनेवाले तथा (सत्) त्रिकालाबाधित नित्य ब्रह्म को (पश्यत्) देखता है (यत्र) जिस

मन्त में प्रभु की सत्ता को हृदय में धारण करनेवालों में मुख्य स्वामी दयानन्द, स्वामी श्रद्धानन्द और महात्मा गांधी के जीवनों को देखते हुए आइए हम गाएँ—

चतुर्दिक् तुम्हीं नाथ ! छाये हुए हो,
मधुर रूप अपना बिछाये हुए हो ।
तुम्हीं व्रतविधाता, नियन्ता जगत् के,
स्वयं भी नियम सब निभाये हुए हो ।
प्रभो ! शक्तियाँ दिव्य अनुपम तुम्हारी,
तुम्हीं दूर, तुम पास, आये हुए हो ।
करें हम भजन पुण्य शुभ कर्म जितने,
सभी में प्रथम स्थान पाये हुए हो ।
तुम्हारी करें वन्दना देव ! निशिदिन,
तुम्ही इस हृदय में समाये हुए हो ।

आइए, हम भी सम्पूर्ण हृदय से ईश्वर की सत्ता और सर्वव्यापकता में विश्वास रख प्रभु के समीप जाएँ। वह अपने सौन्दर्य से हमें भी सुन्दर, अपने ऐश्वर्य से ऐश्वर्य-शाली, अपनी उज्ज्वलता से उज्ज्वल बना देगा और उस समय हम 'सत्य, शिवम्, सुन्दरम्' बन सकेंगे।

ईश्वर सबका रक्षक है

ऋग्वेद ४।३१।३ में परमेश्वर को संसार का रक्षक बताया गया है और कहा गया है—

अभी षु णः सखीनामविता जरितॄणाम् ।
शतं भवास्यूतिभिः ॥

अर्थात् हे ईश्वर तू (नः) हम सब (सखीनां) मित्रों और (जरितॄणां) उपासकों का (शतं ऊतिभिः) सैकड़ों रक्षणों द्वारा (अभि सु अविता) सब प्रकार से उत्तम रक्षक (भवासि) है।

इस मन्त्र का तात्पर्य यह है कि परमेश्वर हमारा मित्र है और मित्र अपने मित्र की सदा और सब प्रकार से रक्षा करता है इसलिए परमेश्वर भी हमारी

रक्षा और तीसरी प्रकार से रक्षा करता है। इसलिए [illegible] नहीं। इसके पास [illegible] कब सूरज, चन्द्र, पृथ्वी [illegible] हैं। [illegible] हमारी सभी ओरों से [illegible] प्रकार से रक्षा करते हैं [illegible] है। वेद में इसके विषय में कहा है—

[illegible] ।
[illegible] ॥

यह [illegible] होने से ही परमेश्वर भगवान् कहलाता है। हे [illegible] गुणों से युक्त [illegible] दिव्य [illegible] अमोघ [illegible] ऐश्वर्यशाली प्रभु का अपनी रक्षा के लिए, अपने लिए ऐश्वर्यों की प्राप्ति के लिए आह्वान करते हैं। हे प्रभु! आप शुभ इस संसार में हमारे पथ दर्शक बनें।

भगवान् हमारी कई प्रकार से रक्षा करता है। स्वतंत्र भारत के नेता [illegible] के सम्पादक श्री देवबन्धु श्री गुप्त वायुयान से दिल्ली से कलकत्ता की ओर रवाना हुए। अखिल भारतीय पत्रकार समिति के प्रधान थे। समिति की [illegible] का अधिवेशन हो रहा था। इसमें उन्हें पहुँचना था। इसी अधिवेशन में महात्मा गांधी के सुपुत्र और 'हिन्दुस्तान टाइम्स' के प्रबन्ध सम्पादक श्री देवदास गांधी भी जाना चाहते थे, किन्तु इन्हें सीट नहीं मिली। सभी सीटें भरी थीं। उन्होंने कई यात्रियों से कहा। किन्तु किसी ने उनकी बात न मानी। देवदास जी बहुत दुःखी हुए। लोगों को बुरा-भला कहा। किन्तु दूसरे दिन प्रातः ही कुछ अन्धकार में यह वायुयान जब कलकत्ता के पास पहुँचा तो आकाश में धुन्ध बहुत थी। नीचे उतरने का मार्ग दिखाई नहीं दिया। समुद्र के किनारे नारियल के वृक्षों का जंगल था। इन वृक्षों से टकराकर जहाज चकनाचूर हो गया। यह हृदयविदारक सूचना जब दिल्ली पहुँची तो देवदास चौंक उठे। उन्होंने परमेश्वर को धन्यवाद दिया और कहा "धन्य है भगवन्! तू हम सबकी सैकड़ों रक्षणों द्वारा रक्षा करता है। तू हमारी माँ है जो कभी हमारे सोचे जानेवाले कार्यों में बाधा डालकर हमारे जीवन की नई सुविधाओं का ध्यान रखती है।"

एक कहानी बचपन में पढ़ी थी। एक राजा था। वह अपने मन्त्रियों के साथ शिकार खेलने गया। रास्ते में शिकार न मिलने से वह तथा उसके मन्त्री महोदय अन्य साथियों से बिलग हो गये और भटकने लगे। अचानक एक जगह राजा के

हाथ मे चोट लग गई। खून बहने लगा और पीड़ा होने लगी। उसने अपनी तकलीफ मन्त्री से कही। मन्त्री ने कहा ईश्वर जो करता है ठीक ही करता है। राजा ने इसे अपने ऊपर व्यंग्य समझा और उस जंगल मे ही मन्त्री को अपने से पृथक् और सेवा से मुक्त कर दिया। मन्त्री वहाँ से अपना रास्ता लेकर चलता बना। दूसरी ओर राजा बढ़ा—अकेला—बिल्कुल अनजान। भटकते हुए जब वह कुछ दूर गया तो उसे कुछ डाकू मिले। वे देवी की पूजा कर रहे थे और उसपर बलि चढ़ाने के लिए किसी व्यक्ति की आवश्यकता थी। अब क्या था, राजा को देखकर उनकी प्रसन्नता का ठिकाना न रहा और उन्होंने उसे पकड़ लिया। बलि चढ़ाने की तैयारी होने लगी। बलि चढ़ाने से पूर्व उसको स्नान कराया गया। स्नान कराते समय डाकुओं के मुखिया की नजर अचानक उसके हाथ मे लगे घावों पर पड़ी और उसने कहा कि यह आदमी बलि के उपयुक्त नहीं, क्योंकि इसके हाथ मे घाव है और क्षत-विक्षत व्यक्ति की बलि चढ़ाई नहीं जा सकती, अत इसे छोड़ दो और दूसरे की तलाश करो। राजा ने अपना सौभाग्य समझा और वहाँ से किसी तरह अपने राज्य में पहुँचा। उसे अनुभव हुआ कि मैंने मन्त्री को हटाकर अन्याय किया है, क्योंकि मेरा हाथ यदि कटा न होता तो आज मैं बलि चढ़ गया होता। शायद मन्त्री ने इसी भाव से कहा था कि ईश्वर जो करता है उसकी कृपा है। मैंने उसे व्यर्थ में ही अलग किया। उसने मन्त्री को खोजकर बुलवाया तथा उससे कहा, "मन्त्रिवर! आपने ईश्वर की कृपा का जो उल्लेख किया था वह सच था, मेरे लिए तो उसकी कृपा ही हुई परन्तु यह तो बताइये कि जब मैंने अपनी नौकरी से आपको पृथक् किया तब भी आपने उसे ईश्वर की कृपा कहा। इसमें क्या तत्त्व है?" मन्त्री ने कहा—महाराज! वह तो स्पष्ट है। डाकुओं को बलि चढ़ानी

अग्ने त्वं नो अन्तम उत त्राता शिवो भवा वरूथ्यः ।
वसुरग्निर्वसुश्रवा अच्छा नक्षि द्युमत्तमं रयिं दाः ॥

—ऋ० ५।२४।१

हे अग्ने ! (नः त्वं अन्तमः) हमारे लिए तू ही समीप है (उत) और तू ही (त्राता) (शिवः) कल्याणमय और (वरूथ्यः) वरने योग्य (भवा) रहता है। तू (अग्निः) तेजस्वी (वसुः) सबका निवासक (वसुश्रवाः) निवास के योग्य सम्पत्ति देनेवाला (अच्छा नक्षि) हमें उत्तम प्रकार प्राप्त हो। हमें (द्युमत्तमं) उत्तम तेजयुक्त (रयिं दाः) धन दे।

परमेश्वर हमारे शरीर के प्रत्येक कण में और आत्मा के भीतर भी विद्यमान है, वह हम सबका रक्षक, कल्याण करनेवाला और सबको आधार देनेवाला है, अतः हमें उसकी उपासना करनी चाहिए। इसलिए किसी ने कहा है—

विश्व-सिन्धु अगम, कौन पार करे भाई !
कोई मिला दीन-बन्धु पड़े ना दिखाई।
कहो किस 'ओम्' नाम कहो एक पूर्णकाम,
कठिनधाम शान्तिधाम कहाँ सन्त साँई।
विश्व-सिन्धु ……।
मिटे सकल राग द्वेष, छूट चलें पाप क्लेश,
करो नाथ ! भोग शेष, मिले मग विदाई।
दूर निकट बार-बार, उठे करुण जन पुकार
वही कुशल करे पार, अन्त भली भाई।
तुम्हीं एक दीन शरण, कृपा नाव करो तरण,
छोड़ चलें जन्म-मरण, देर क्यों लगाई॥
विश्व-सिन्धु……।

एक अन्य मन्त्र में परमेश्वर की रक्षणशक्ति का उल्लेख करते हुए बताया गया है—

स सध्रीचीरपो वृष्ण्यानि पौंस्यानि नियुतः सश्चुरिन्द्रम् ।
[illegible] विराजति ॥

—६।३६।२

सं इन्दम्) उस प्रभु के पास (ऊतयः सध्रीचीः) श्रेष्ठ रक्षक शक्तियाँ रहती हैं तथा (वृष्ण्यानि पौंस्यानि) उत्साहवर्धक शक्तियाँ (नियुतः) साथ नियुक्त होकर (सश्चुः) सेवा करती हैं। (सिन्धवः समुद्रं न) नदियाँ जिस रीति से समुद्र को, उसी प्रकार (उक्थशुष्मा गिरः) बल से युक्त स्तुति-प्रार्थना की वाणी (उरु व्यचसं आविशन्ति) सर्वव्यापक देव के पास पहुँचती हैं अर्थात् परमेश्वर के पास सब प्रकार का रक्षण और बल है, अतः उसी की उपासना करो।

ऋग्वेद के ६।४४।३ में बतलाया गया है कि परमेश्वर ने प्रत्येक व्यक्ति की उन्नति तथा रक्षा के लिए अनेक मार्ग तथा उपाय प्रदान किये हैं और यही कारण है कि लोग उसकी विभिन्न प्रकार से स्तुतियाँ करते हैं।

महीरस्य प्रणीतयः पूर्वीरुत प्रशस्तयः। नास्य क्षीयन्त ऊतयः॥

उसकी उत्तम नीतियाँ बड़ी हैं, प्रशंसाएँ पूर्ण हैं और इसकी रक्षक शक्तियाँ कभी क्षीण नहीं होतीं।

जब हमारा शक्तिशाली रक्षक सदा समीप विद्यमान है तो आइए हम भी निश्चय करें कि अपना जीवन उसी शक्तिशाली प्रभु को अर्पित कर दें। जो कुछ काम करें प्रभु का ध्यान रखकर करें। यदि प्रभु की सेवा में कुछ पत्र-पुष्प चढ़ाना आवश्यक है तो अपनी सारी सम्पदा उसके चरणों में न्यौछावर करने में क्या आनन्द होगा? जीवन का इससे अच्छा क्या उपयोग हो सकता है कि उसका प्रत्येक क्षण प्रभु की सेवा में लगे। हमारा प्रत्येक कार्य, विचार और शब्द उसकी सेवा के लिए हो। यह आप आज से ही शुरू कर सकते हैं। आप अपने जीवन का उपयोग बुद्धिमत्तापूर्वक करें, उसे बुद्धिमत्तापूर्वक चलाएँ। उसका ध्यान सोचने का विषय है—

ती है। कौषीतकि ब्राह्मण के मत में (१०-३०) वेद-मन्त्र देखे गये हैं, बनाये नहीं।
तरेय ब्राह्मण (३-६) में मालूम होता है कि गौरवीत ने सूक्तों या मन्त्रसमूहों
ो देखा था। नास्तिक न होते हुए भी नास्तिक समझे जानेवाले साख्य ने लिखा
:—

न पौरुषेयत्वं तत्कर्तुः पुरुषस्याभावात्।

द अपौरुषेय हैं, क्योंकि वेदकर्त्ता का अभाव है। बृहदारण्यक का कहना है—

अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतत् ऋग्वेदो यजुर्वेदः इत्यादि। अर्थात् वेद
गवान् का श्वास है। श्वेताश्वतर ६।८ का कहना है—

यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।

ह्मा को पहले उत्पन्न कर ईश्वर उनको लोक शिक्षा के लिए वेद देते हैं। स्मृति-
न्थों में भी वेद की नित्यता का समर्थन किया गया है। सायणाचार्य भी वेद को
नेत्य मानते हैं। मनु महाराज ने कहा है "सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति" समूचो कलाओं
और विद्याओं का मूल भी वेद है। वेद के विषय में कहा जाता है "वेद आर्य
सभ्यता एवं वैदिक संस्कृति का मूलाधार है। वेद आर्य ज्ञान-विज्ञान का उज्ज्वल
धाम है। वेद सम्पूर्ण आर्य एवं वैदिक वाङ्मय का प्राण है। वह भक्तिरस की मन्दा-
किनी और उच्च गम्भीर विचारों का सुखद आवास है। वेद में ओज, तेज और
वर्चस्व की राशि है। वेद ब्रह्मगवी का मान और रणाङ्गण का विहाग है। वेद में
दिग्दिगन्त को पावन करनेवाले उदात्त उपदेश हैं। वेद में मानवता-विद्रोहियों में
हड़कम्प मचानेवाले अनुपम आदेश हैं। वेद अत्याचारियों, अनाचारियों को ध्वस्त-
विध्वस्त करनेवाला आर्यों का ब्रह्मास्त्र है। वेद मानव के समस्त उच्च गुणों की
क्रीड़ास्थली है। वेद में आधिभौतिक उन्नति की चरम सीमा है, आधिदैविक
अभ्युदय की पराकाष्ठा है, आध्यात्मिक उन्नयन का चूडान्त रूप है।" वेद के
विषय में मन्त्र कहता है—

बृहस्पते त्वमस्य यन्ता सूक्तस्य बोधि तनयं च जिन्व।
विश्वं तद्भद्रं यदवन्ति देवा बृहद्वदेम विदथे सुवीराः॥

ईश्वर अजन्मा और अनादि है

ईश्वर अजन्मा अर्थात् जन्म न लेनेवाला है। जो वस्तु जन्म न लेगी, उत्पन्न होगी अर्थात् जिसका निर्माण नहीं होगा वह अनादि होगी, क्योंकि जन्मवाली तु का आदि होता है। वेद मे इन दोनो गुणो का समर्थन किया गया है। वेद १।६७।३ मे प्रभु को 'अज' कहा गया है। वहाँ आया है—

"अजो न क्षां दाधार पृथिवीं तस्तम्भ द्यां मन्त्रेभिः सत्यैः" अर्थात् न जन्मने-ला, अजन्मा परमेश्वर न टूटनेवाले विचारो से पृथिवी को धारण करता है। तुत अन्तरिक्ष या द्युलोक अथवा सूर्यादि तेजस्वी पदार्थों को गिरने से रोकता है।

ऋग्वेद ६।५०।१४ मे परमेश्वर को अजन्मा बतलाते हुए उससे प्रार्थना की है कि ससार जिसका एक पाद है अर्थात् ससार जिसकी अपेक्षा से अत्यन्त टा है, ऐसा (अजः) अजन्मा परमात्मा (नः) हमारी प्रार्थना को सुने। मन्त्र भाग है—

"उत नोऽहिर्बुध्न्यः शृणोत्वज एकपात् पृथिवी समुद्रः"।

ऋग्वेद ७।३५।१३ मे कहा गया है—

शन्नो अज एकपाद्देवो अस्तु शं नोऽहिर्बुध्न्यः शं समुद्रः।
शन्नो अपां नपात्पेरुरस्तु शं नः पृश्निर्भवतु देव गोपा॥

कपाद अजन्मा परमेश्वर हमारे लिए कल्याणकारी हो, अन्तरिक्ष मे होनेवाले घ हमारे लिए कल्याणकारी हों, समुद्र सुखदायी हो, पैर न होते हुए भी जलों को र करनेवाली नौका हमारे लिए सुखकारक हो। सूर्यादि की रक्षा करनेवाला न्तरिक्ष हमारे लिए सुखकारी हो।

एक अन्य मन्त्र मे ईश्वर को अनादि बनाया गया है। वहाँ आया है—

अभ्रातृव्यो अना त्वमनापिरिन्द्र जनुषा सनादसि।
युधेदापित्वमिच्छसे॥

—सा० पू० ५।१।२।१

इन्द्र ! तू शत्रुरहित है। तू भी किसी का शत्रु नहीं है (अनापिः) बन्धुरहित है। ब तेरे पुत्र हैं, सबका तू जनक है। (अना) तेरा कोई नेता नहीं, तेरा कोई नौकर

नही। तू अपने कार्यों मे किसी की सहायता नही लेता है। (जनुषा सनात् असि) तू जन्म से सनातन है अर्थात् तू जन्मादि से रहित अनादि है, (युधा इत्) उद्योग से ही तू बन्धुता को स्वीकार करता है।

एक अन्य मन्त्र मे भी उसे अनादि माना गया है—

> वयम् त्वामपूर्व्यं स्थूरं न कच्चिद् भरन्तोऽवस्यवः।
> वज्रि चित्रं हवामहे ।।
>
> —सा० उ० १।१।२२।

हे (अपूर्व्यं) अनादे परमात्मन्! (वज्रिन्) पाप को दूर करनेवाले प्रभो! (अवस्यव वयम्) रक्षा के अभिलाषी हम (त्वां उ) तुझ ही (चित्रं) विचित्र (स्थूरं) अविनाशी की (हवामहे) कामना करते हैं (न) जिस प्रकार अन्य रक्षाभिलाषी लोग (कच्चित् स्थूरं भरन्तः) किसी महापुरुष का आश्रय करते हैं।

वेदो मे भगवान् को प्रादुर्भूत होनेवालो मे सबसे पहला माना गया है। यों तो भगवान् सदा से ही प्रादुर्भूत हैं अर्थात् वे अजन्मा और अनादि हैं, अत उनके प्रादुर्भाव का कोई प्रश्न नही। पर फिर भी इस सृष्टि की रचना के साथ उनका एक प्रकार का प्रादुर्भाव होता है। जब तक इस सृष्टि मे आकर इसकी आश्चर्य मे डाल देनेवाली रचना और व्यवस्था पर मनुष्य विचार नही करता तब तक उसे भगवान् की सत्ता और महिमा का अनुभव नहीं होता। इस दृष्टि से सृष्टि की रचना के साथ ही भगवान् जन्म लेते हैं। सृष्टि की रचना के साथ प्रकट होनेवाली सब चीजो में भगवान् सबमे मुख्य है। गुणों, शक्ति और महिमा मे सृष्टि की और कोई वस्तु भगवान् की बराबरी नही कर सकती।

आइए उस अजन्मा और अनादि प्रभु का गुणगान करें—

> नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानां, एको बहूनां यो विदधाति कामान्।
> तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्।।

प्रभो! आप नित्यस्वरूप है, चेतनरूप हैं, आप एक है, आप भक्तों की कामनाओं को पूर्ण करनेवाले है। आपको जो लोग अपनी आत्मा मे साक्षात् करके देखते हैं उनको वास्तविक तथा निरन्तर शान्ति प्राप्त होती है।

यह ईश्वर सबका बन्धु, पिता और सृष्टिकर्ता है

संस्कृत के एक श्लोक में प्रभु की महिमा का वर्णन करते हुए उन्हें अपना पिता, माता, बन्धु, मित्र और सर्वस्व बताया गया है। बृहत्स्तोत्ररत्नाकर के शब्दों में—

त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव, त्वमेव सर्वं मम देव देव॥

भगवन्! आप हमारे माता-पिता हैं, आप ही हमारे बन्धु और सखा हैं। स्वामिन्! आप ही हमारे विद्या एवं धन हैं। हे नाथ! आप ही हमारे सर्वस्व हैं और हमारे पूज्य उपास्य देव हैं। आपके स्थान में किसी अन्य का भूलकर भी हम कभी पूजन न करें।

यजुर्वेद अ० ३२ और मन्त्र १० में प्रभु को बन्धु, मित्र और पिता माता गया है—

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त॥

वह परमात्मा हमारा बन्धु, मित्र और सकल जगत् का उत्पादक तथा पालक पिता है। वही विधाता अर्थात् कर्मफलप्रदाता है। सम्पूर्ण लोकों को तथा, उनके नाम, स्थान तथा जन्मों को जानता है। उसी परमात्मा से मोक्ष को प्राप्त होकर मुक्त जीव संसार के सुख-दुःख से रहित नित्यानन्दयुक्त मोक्ष में स्वेच्छापूर्वक विचरते हैं।

इस मन्त्र में कहा गया है कि परमात्मा हमारा बन्धु है। वही हमारा सच्चा सहायक और मित्र है। गीता में कहा है—

पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव॥

ईश्वर इस चराचर जगत् का पिता है, गुरु से भी बढ़कर गुरु और पूजनीय है। हे अतिशय विभूतिवाले! तीनों लोकों में तेरे समान कोई दूसरा नहीं है, फिर तुझसे बढ़कर कैसे हो सकता है।

यदि मनुष्य ईश्वर को अपना बन्धु, पिता और विधाता समझ ले तो उ
दुःख और क्लेश नहीं हो सकता। फिर तो वह निर्भय और निश्शंक हो जाता है
कैसे ? श्री पू० जगदीश्वरानन्द जी द्वारा लिखित एक दृष्टान्त देखिए—

एक समय की बात है एक जहाज समुद्र में जा रहा था कि भयंकर तूफ
आने लगा और यान के डूबने का भय उत्पन्न हो गया। जितने व्यक्ति उस य
में बैठे थे सभी रोने और चिल्लाने लगे। परन्तु एक व्यक्ति जो ईश्वर को पि
समझकर प्यार करता था, उसपर विश्वास रखता था, उसे सच्चा बन्धु
पिता मानता था वह बिल्कुल निर्भय था और उसी प्रकार प्रफुल्लित था
तूफान आने से पूर्व। उसका पुत्र जो यान के डूबने और अपने मरने से बहुत
रहा था, घबराकर और बहुत दुःखी होकर रोता और चिल्लाता था। पिता
उसे बहुत समझाया पर उसका रोना और चिल्लाना बन्द नहीं हुआ। तब पि
ने उसे फर्श पर गिरा दिया और म्यान से तलवार निकालकर तथा क्रुद्ध
होकर उसकी गर्दन पर रख दी और कहा कि यदि तुमने रोना और चिल्ल
बन्द न किया तो तुम्हारी गर्दन अभी धड़ से पृथक् कर दी जाएगी। पिता के
कार्य से पुत्र का ध्यान तूफान की ओर से हट गया और उसका भय भी जाता
तथा वह खिलखिलाकर हँसने लगा। पिता ने और भी क्रुद्ध होकर कहा
तुम्हारी गर्दन अभी तुम्हारे धड़ से अलग करता हूँ।" परन्तु पुत्र को तब भी
नहीं हुआ, वह और भी अधिक खिलखिलाकर हँसने लगा। तब पिता ने
क्या तुझे नंगी तलवार से भी डर नहीं लगता ?" पुत्र ने उत्तर दिया कि
डर इसलिए नहीं लगता कि यह तलवार मेरे पिता के हाथ में है, अतः यह
कुछ नहीं बिगाड़ सकती। तब पिता ने कहा, "इसी प्रकार मुझे भी पूर्ण वि
है कि तूफान और मृत्यु मेरे पिता के हाथ में है जो मुझसे प्रेम करता है और
दृढ़ निश्चय और अटल विश्वास है कि तूफान और मृत्यु से मुझे कोई हानि
पहुँच सकती।" श्री स्वामी जी महाराज लिखते हैं "सुख और शान्ति
अभिलाषियो ! आप भी उस प्रभु को अपना सच्चा सखा, बन्धु, पिता, औ
और न्यायाधीश मान लो, फिर कैसा दुःख और कैसा शोक ! फिर तो आपके
से एक आवाज निकलेगी—

राजी हैं हम उसी में जिसमें तेरी रजा है।
यहाँ यूँ भी वाह वाह है और वूँ भी वाह वाह है॥

वेद में आया है—

स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव ।
सचस्वा नः स्वस्तये ।।

ऋ० १।१।६

हे (अग्ने) तेजस्वी ईश्वर! (सूनवे पिता इव) पुत्र को जैसे पिता प्राप्त होता है उस प्रकार (सः) वह तू (नः) हमको (सु उप आयनः) उत्तम प्रकार प्राप्त (भव) हो और (न.) हमारे (स्वस्तये) उत्तम कल्याणमय अस्तित्व के लिए (सचस्व) हमारे साथ रह।

परमात्मा हमारा पिता है और हम उस परम पिता के 'अमृतपुत्र' हैं। पुत्र का अधिकार है कि वह पिता की गोद में बैठे और निर्भय हो। इसीलिए परम पिता की प्रार्थना की जाती है कि वह हमें पिता के समान प्राप्त होकर सदा हमारे साथ रहकर हमें उन्नति के पथ पर चलाए।

ऋग्वेद १।२६।३ में कहा है—

आ हि ष्मा सूनवे पितापिर्यजत्यापये ।
सखा सख्ये वरेण्यः ।।

जिस प्रकार (पिता सूनवे) पिता पुत्र को (आयजति) सहायता देता है, (आपि. आपये) बन्धु बन्धु की सहायता करता है और (वरेण्य. सखा) श्रेष्ठ मित्र अपने (सख्ये) मित्र को सहायता देता है उसी प्रकार हे ईश्वर! तू मेरी (आ स्म) सब प्रकार से सहायता कर।

एक अन्य मन्त्र में बतलाया है—

त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ ।
अधा ते सुम्नमीमहे ।

—ऋ० ८।९८।११

हे (वसो शतक्रतो) सबका निवास करने तथा सैकड़ों सत्कर्म करनेवाले ईश्वर! (त्वं हि नः पिता) तू हम सबका सच्चा पिता है (त्वं) तू ही (माता) माता है (अधा) इसलिए हम सब (ते) तेरा (सुम्नं) उत्तम मनन अर्थात् विचार (ईमहे) करते हैं।

ईश्वर ही सब मनुष्यों का सच्चा पिता, माता, भाई, मित्र आदि है—

अग्नि मन्ये पितरमग्निमापिमग्नि भ्रातरं सदमित्सखायम्।
अग्नेरनीकं बृहतः सपर्यं दिवि शुक्रं यजतं सूर्यस्य॥

ऋ० १०।७।३

मैं (अग्नि) तेजस्वी ईश्वर को (पितरं) पिता (मन्ये) मानता हूँ और उसी (अग्नि) तेजोमय प्रभु को (आपिं) बन्धु (भ्रातरं) भाई (सदं इत् सखायं) सदा के लिए मित्र (मन्ये) मानता हूँ। इस (बृहतः अग्नेः) इस बड़े तेजस्वी देव के (अनीकं) बल की (सपर्यं) मैं पूजा करता हूँ। इसके प्रभाव से (दिवि) द्युलोक में (सूर्यस्य) सूर्य का (यजतं शुक्रं) पूजनीय पवित्र करनेवाला तेज चमक रहा है।

ईश्वर सभी व्यक्तियों को सुबुद्धि प्रदान करता है, सबको जीवन देनेवाला वही है, इसीलिए सबका पिता वही है और सब उसके सम्बन्धी हैं। वह उत्तम वीर किसी से न दबनेवाला, शक्तिशाली और अपने नियमों का पालन करनेवाला है इसलिए उसके पास सहस्रों प्रकार का धन है—

त्वमग्ने प्रमतिस्त्वं पितासि नस्त्वं वयस्कृत्तव जामयो वयम्।
सं त्वा रायः शतिनः सं सहस्रिणः सुवीरं यन्ति व्रतपामदाभ्यः॥

ऋ० १।३१।१०

हे तेजस्वी प्रभो! तू विशेष बुद्धिवाला है, तू हमारा पिता है, जीवन देनेवाला है, हम तेरे बान्धव हैं। हे न दबनेवाले ईश्वर! उत्तम वीरों से युक्त और नियम के पालक, तेरे प्रति सैकड़ों-हजारों धन प्राप्त होते हैं।

भक्तों को प्रभु धन देता है। भक्तों का वह प्रभु पालक पिता है। वेद कहता है—

त्वां वर्धन्ति क्षितयः पृथिव्यां त्वां राय उभयासो जनानाम्।
त्वं त्राता तरणे चेत्यो भूः पिता माता सदमिन्मानुषाणाम्॥

ऋ० ६।१।५

मनुष्य पृथिवी में तुझे बढ़ाते हैं, तेरी महिमा फैलाते हैं, मनुष्यों के दोनों प्रकार के धन भी तेरी महिमा प्रकाशित करते हैं, तू ही तारक है, और दुःख से तैर जाने के लिए (चेत्य) स्मरण करने योग्य तू ही है तथा मनुष्यों का पिता-माता भी सदा तू ही है।

आइए, हम उस प्रभु का गुणगान करें जो हमारा पिता है, जो हमारी माता है, जो हमारी रक्षा करता है, जो हमारा पालन करता है। अन्त में हम उस

प्रभु को नमस्कार करते हैं—

नमस्ते सते ते जगत्कारणाय,
नमस्ते चिते सर्वलोकाश्रयाय,
नमोऽद्वैततत्त्वाय मुक्तिप्रदाय,
नमो ब्रह्मणे व्यापिने शाश्वताय।

हे सदा रहनेवाले, जगत् के कारण प्रभो! तुझे नमस्कार हो। सर्वलोक के आश्रय, चेतनस्वरूप! तुझे प्रणाम हो। सुखस्वरूप, मुक्ति के दाता! तुझे हम नमस्कार करते हैं। हे सर्वव्यापक परब्रह्म! तुझे हमारा बार-बार प्रणाम हो।

ईश्वर की उपासना करनी चाहिए

स्तुति, प्रार्थना, उपासना ये तीन शब्द अलग-अलग भाव बतलाते हैं। 'सत्यार्थप्रकाश' में स्वामीजी महाराज ने तीनों शब्दों को समझाया है और लिखा है कि स्तुति में ब्रह्म के गुणों का गान किया जाता है, प्रार्थना में ब्रह्म से सद्गुणों, साहस, बुद्धि तथा बल की याचना की जाती है तो उपासना में ब्रह्म से मेल किया जाता है तथा उसका साक्षात्कार किया जाता है। सन्ध्या में हम प्रतिदिन उपस्थान-मन्त्रों से प्रभु के निकट जाने का यत्न करते हैं। उपस्थान शब्द का अर्थ है, समीप बैठना। उपासना शब्द का भी यही अर्थ है। भक्त जब भगवान् के समीप बैठता है; यम, नियम, धारणा, ध्यान और जप-तप के द्वारा मनुष्य अपने प्रभु के बहुत अधिक समीप पहुँच गया है। सन्ध्या में उपस्थानमन्त्रों में पहले व्यक्ति आत्म-निरीक्षण, मार्जन, अघमर्षण तथा मनसा-परिक्रमा के द्वारा ऐसा प्रयत्न करता है कि परमात्म-तत्त्व से उसकी एकता हो जाए, वह-उसके समीप पहुँच जाए। शक्ति के समुद्र उस भगवान् के समीप पहुँचते ही जीवात्मा की शक्तियाँ विकसित और महान् बनती हैं। पानी की नन्हीं बूँद अपने-आप में तुच्छ, अशक्त, सीमित, क्षणिक और अनुपयोगी है,-परन्तु यही नन्ही बूँद जब विशाल समुद्र में गिरकर समुद्र के जल के साथ अपने को मिला देती है तो समुद्र के स्वभाव, शक्ति और विशालता को प्राप्त कर लेती है। इसी प्रकार मनुष्य की शक्तियाँ भी तुच्छ एवं सीमित हैं परन्तु उपासना या ब्रह्म-सामीप्य या ब्रह्म-मिलन द्वारा महान् प्रभु से निकट सम्बन्ध

स्थापित कर लेने पर मनुष्य की शक्तियो की योग्यता बढ़ जाती है तथा उसे नई शक्तियों का अनुभव होता है। अरविन्दाश्रम की माताजी ने उपासना के विषय मे लिखा है, "आध्यात्मिक जीवन अथवा योग के अभ्यास का उद्देश्य दैवी चैतन्यता जाग्रत् करना है। दैवीय चैतन्यता जाग्रत् करने का परिणाम मनुष्य की शक्तियो का पवित्र, महान्, यशस्वी तथा पूर्ण होना है।"

उपासना की स्थिति बडी आनन्ददायिनी है। उसके विषय मे उपनिषत्कार ने लिखा है—

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत्।
न शक्यते वर्णयितु गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते॥

समाधियोग मे जिस पुरुष के अविद्यादि मल नष्ट हो गये हैं, आत्मस्थ होकर जिसने परमात्मा मे अपना ध्यान लगाया है, अपने परिश्रम, तप और साधना से जो शिखर पर पहुँच गया है और वहाँ पहुँच जो अद्भुत दृश्य देख रहा है, भगवान् की क्रीडास्थली का दर्शन कर रहा है, वह समीपता की अनुभूति ही उपासना है। उस सामीप्य की अनुभूति से जो सुख या आनन्द भक्त को होता है, वह वाणी से नही कहा जा सकता, वह तो अनुभव की वस्तु है। सूरदास ने ठीक ही कहा है—

अविगत गति कछु कहत न आवे।
ज्यो गूँगहि मीठे फल को रस
अन्तरगत ही भावे।
परम स्वाद सब ही को निरन्तर
अमित तोष उपजावै।
मन बानी को अगम अगोचर,
जो जाने सो पावै।

इस उपासना की स्थिति तक पहुँचने के लिए १ यम २. नियम ३ आसन ४. प्राणायाम ५ प्रत्याहार ६. धारणा ७ ध्यान और ८. समाधि आठ अग हैं। इनका पालन और अभ्यास करना चाहिए। स्वामीजी महाराज ने लिखा है, "जब उपासना करना चाहें तब एकान्त शुद्ध देश मे आकर आसन लगा, प्राणायाम कर बाह्य-विषयो से इन्द्रियों को रोक, मन को नाभिप्रदेश या हृदय, कण्ठ, नेत्र, शिखा अथवा पीठ के मध्य हाड़ में किसी स्थान पर स्थिर करके अपने आत्मा और परमात्मा का विवेचन करके परमात्मा में मग्न हो जाने से संयमी होवें। जब इन

साधनों को करता है, तब उसका आत्मा और अन्तःकरण पवित्र होकर सत्य से पूर्ण हो जाता है जो आठ प्रहर में घड़ी-भर भी इस प्रकार ध्यान करता है वह सदा उन्नति को प्राप्त करता है।" इसलिए हमें ईश्वर की उपासना करनी चाहिए। वेद के एक मन्त्र में यह बतलाया गया है कि उपास्यदेव कैसा हो—

स हि क्रतुः स मर्यः स साधुर्मित्रो न भूदद्भुतस्य रथीः।
तं मेधेषु प्रथमं देवयन्तीर्विश उप ब्रुवते दस्ममारीः॥

—ऋ० १।७७।३

(सः क्रतुः) वह कर्ता है (सः मर्यः) वह मारक अर्थात् संहारक है, (सः साधुः) वह साधक अर्थात् धारक है, वह (मित्रः न) मित्र के समान (अद्भुतस्य रथीः) अद्भुत सृष्टि को रथ बनाकर उसपर आरूढ़ होनेवाला है (मेधेषु प्रथमं तम्) यज्ञों में, मेधा बुद्धि के कर्मों में पहला देव वही है (दस्म) उस दर्शनीय को (देवयन्तीः आरीः विशः) देवता बनने की इच्छा करनेवाले प्रगतिशील प्रजाजन (उपब्रुवते) उपासना करते हैं।

इस मन्त्र का भाव है कि परमेश्वर संसार का रचयिता, धर्ता और नाशक है। जो मनुष्य उस दिव्य शक्ति से एकता स्थापित करना चाहते हैं उन्हें उसकी उपासना करनी चाहिए।

संसार में हमें जितने कष्ट, दुःख और चिन्ताएँ सताती हैं उनका कारण हमारी ईश्वर से दूर हटने की भावना है जिससे हम इस संसार में अपने को दुःखी, चिन्तित, निराश्रित और एकाकी अनुभव करते हैं। जो ईश्वर को अपना पालक और धारक समझता है और जिसे उसके रुद्ररूप का, जो दुष्टों को रुलाता है, विश्वास रहता है, वह सब प्रकार की निराशाओं और कष्टों से ऊपर उठ जाता है। ऐसा मनुष्य जीवन की प्रत्येक असफलता को सफलता में बदलने के लिए सचेष्ट रहता है, संघर्ष को उन्नति की सीढ़ी बनाता है। वह संसार की सम्पूर्ण परिस्थितियों पर विजय प्राप्त कर लेता है। सर्वशक्तिमान् प्रभु के सामीप्य से उसकी शक्तियाँ दुगुनी हो जाती हैं और वह सोचने लगता है कि मेरे ऊपर उस सच्चिदानन्द प्रभु का वरदहस्त है जो अनादि-अनन्त है, अतः मुझे घबराने की आवश्यकता नहीं। वह प्रभु के उपास्य रूप से अपने को शक्तिशाली बना लेता है। प्रभु की उपासना से हमें साहस, बल और शक्ति प्राप्त भी क्यों न होगी? वह है भी तो सबसे अधिक व्यापक, सबसे अधिक प्रभावशाली और सबका सच्चा

पालक। वेद ने कहा है—

इन्द्रं विश्वा अवीवृधन्त्समुद्रव्यचसं गिरः।
रथीतमं रथीनां वाजानां सत्पतिं पतिम् ॥

—ऋ० १।११।१

(समुद्रव्यचसं) समुद्र के समान विस्तृत (रथीनां रथीतमं) वीरों में श्रेष्ठ वीर (वाजानां पतिं) बलों के स्वामी (सत्पतिं) सबके सच्चे पालक (इन्द्रं) प्रभु को (विश्वा गिरः) सब स्तुतियाँ (अवीवृधन्) बढ़ाती हैं, उसकी प्रशंसा करती हैं। इसीलिए तो उसके समीप हमें पहुँचना चाहिए। जब हम उसके समीप पहुँच जाएँगे उस समय संसार की कोई विपत्ति या दुःख हमारा कुछ नहीं बिगाड़ सकेगा। ऋग्वेद में कहा गया है—

इन्द्रश्च मृळयाति नो न नः पश्चादघं नशत्।
भद्रं भवाति नः पुरः ॥

ऋ० २।४१।११

जब वह शक्तिशाली भगवान् हमारे ऊपर दयालु होता है, तो पाप हमारे पीछे नहीं पहुँचता, पाप हमारा पीछा नहीं करता और भलाइयाँ हमारे आगे-आगे विद्यमान रहती हैं।

मैं आपको यह बतलाना चाहता हूँ कि उपासना उस बलिष्ठतम प्रभु की उपासना हमारी परिस्थितियों में आमूल परिवर्तन कर देती है। आपने सुना होगा कि बहुत-से मनुष्य कहा करते हैं कि उपासना इसलिए एक अच्छी वस्तु है कि उससे मनुष्य में कठिनाइयों और विपत्तियों का सामना करने के लिए हिम्मत और बल प्राप्त होता है। उनका यह भी विचार है कि उपासना मनुष्य में आत्म-विश्वास उत्पन्न करती है और वह विपदाओं से निकल और बच जाता है। पर हम आपसे कहेंगे कि उपासना—सच्ची उपासना—जिसमें कठिनाई में भी ईश्वर ही दिखाई देता है, हमें कठिनाई से मुकाबला करने का बल ही नहीं देती बल्कि कठिनाई की जगह सुख ला देती है। उपासना एक परिस्थिति के बदले दूसरी परिस्थिति लाकर उसे बदल देती है। उपासना हमारे स्वभाव को बदलकर हमें सन्तोष और सुख देती है। उपासना मनुष्य को सफलता के नये रास्ते बताती है, वह केवल पुरानी राह की मरम्मतभर नहीं करती है। शरीर, परिस्थितियाँ, संसार हमारे विचारों के आधार पर बनते हैं; उनका रूप हमारे विश्वास के

अनुरूप होता है और यह उपासना हमारे विचारों को उच्च, दृढ़ और संकल्पवान् बनाती है। ईश्वर ने आपको बुद्धि दी है। उपासक की बुद्धि ईश्वरीय प्रेरणा से परिपूर्ण हो जाती है और वह बुद्धि का सफलतापूर्वक उपयोग करता है, यही उसकी सफलता का रहस्य है।

उपासना का लाभ हमे यह होता है कि प्रभु के अपने समीप होने और उसके शक्तिशाली स्वरूप की अपने मे स्थिति होने से हममे एक आत्मविश्वास उत्पन्न होता है। यह आत्मविश्वास ही हमें प्रभु के समीपतम ले आता है और यह आत्म-विश्वास वह शक्ति है जो पहाड़ों को उखाड़ फेंकती है। यह आत्मविश्वास वह ...मन्त्र है, जिसकी सहायता से अभेद्य दुर्ग जीते जा सकते हैं, दुर्गम जंगलों और ...े रेगिस्तानों को पार किया जा सकता है, बड़े-बड़े आविष्कार किये जा सकते ...अलभ्य वस्तुएँ प्राप्त की जा सकती हैं। हमे इंगलैण्ड के एक यहूदी प्रधान मन्त्री ...जीवन स्मरण आ रहा है जिसका नाम था बैंजमन डिज़राइली। यह यहूदी ...। इसे किसी विश्वविद्यालय की उच्च पदवी प्राप्त न थी, इसका जन्म किसी ...त बड़े समृद्ध परिवार में नहीं हुआ था। उस समय इसके यहूदी होने के कारण ...गलैण्ड की जनता भी इसे घृणा की दृष्टि से देखती थी। एक लार्ड मेलबोर्न से ...सकी बातचीत हुई और इसने उसे बताया कि वह एक दिन इंगलैण्ड का प्रधान-...न्त्री बने बिना न रहेगा। उस समय इंगलैण्ड मे किसी यहूदी के प्रधान मन्त्री ...नने की कोई कल्पना भी नहीं कर सकता था, अत उसने इसे समझाया। पर, ...सा व्यक्ति जो प्रभु मे विश्वास कर और लक्ष्य सामने रखकर चलता है, कभी ...पने निश्चय से विरत नहीं हो सकता। अनेक बार संसद् का चुनाव हारने के ...ाद, एक बार वह सफल हुआ। उसके बाद भी संसद् में सदस्य उसके भाषण को सुनने को तैयार न हों, उसे अपना भाषण बीच में रोकना पड़ता था। पर, एक दिन [illegible]

सर्वोत्तमता, श्रीरता, तत्पर इनसे सिद्ध हो जाते हैं और इस प्रकार हमें
शक्ति प्राप्त हो जाती है। परमात्मा ही इस शक्ति का उद्गम है। यह
जीवन की सफलता का मार्ग प्रशस्त करती है। इसीलिए यह मन्त्र
जब वह शक्तिशाली भगवान् हमपर दयालु होता है, तब हम
जाते हैं।

एक मन्त्र में प्रभु से कहा गया है—

> त्वमग्ने राजा वरुणो धृतव्रतस्त्वं मित्रो भवसि दस्म ईड्यः
> त्वमर्यमा सत्पतिर्यस्य सम्भुजं त्वमंशो विदथे देव भाजयुः
> ऋ.

हे (देव) देव ! (अग्ने) प्रकाशस्वरूप (त्वं) तू ही (राजा वरुणः) राजा
तू ही (धृतव्रतः) नियमों का धारण करनेवाला है, (त्वं) तू (दस्म) दर्श
(ईड्यः) स्तुत्य (मित्रः भवसि:) मित्र है, (त्वं) तू ही (सत्पतिः अर्यमा
का पालक न्यायकारी है। (यस्य) जिसका (सम्भुज) दान सर्वत्र है,
(अंशः) अंश नामक देव है, जो (विदथे) यज्ञ में (भाजयुः) पूजनीय होत

इस मन्त्र में परमेश्वर को नियमों का धारण करनेवाला बतला
और उसके बाद उसे दर्शनीय बतलाते हुए उसकी उपासना का उपदेश
है। इसके बाद उसकी विशेषता बतलाते हुए उसे मित्र, सज्जनों का प
न्यायकारी कहा गया है। इन गुणों के कारण उसकी उपासना करनी
प्रश्न उत्पन्न होता है कि परमेश्वर नियमों का धारण करनेवाला कैसे
वह सर्वशक्तिमान् है, तो उसे नियम धारण करने की क्या आवश्यक
सत्यार्थप्रकाश में स्वामीजी महाराज ने इसी प्रकार के प्रश्न का उत
लिखा है, 'सर्वशक्तिमान् शब्द का अर्थ है कि ईश्वर अपने काम अर्थ
उत्पत्ति, पालन, प्रलय आदि और सब जीवों के पुण्य-पाप की यथायोग्य
करने में किंचित् भी किसी की सहायता नहीं लेता अर्थात् अपने अनन्त स
ही अपना काम पूर्ण कर लेता है।' इसपर प्रश्नकर्त्ता उनसे पूछता है—
ऐसा मानते हैं कि ईश्वर चाहे सो करे, क्योंकि उसके ऊपर दूसरा कोई
स्वामीजी महाराज इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि—हम तुमसे पूछते
वह क्या चाहता है ? जो तुम कहो कि वह सब-कुछ चाहता और कर
तो हम तुमसे पूछते हैं परमेश्वर अपने को मार, अनेक ईश्वर बना, स्वयं

ोरी, व्यभिचारादि पापकर्म कर और दुःखी भी हो सकता है ? जैसे ये काम
श्वर के गुण, कर्म, स्वभाव से विरुद्ध हैं, तो जो तुम्हारा कहना है कि वह सब-
छ कर सकता है, यह कभी नहीं घट सकता अर्थात् परमेश्वर भी अपने बनाये
नयमों को तोड़ नहीं सकता।' इसलिए प्रभु के उपासक को अपने नियमों के पालन
सदा तत्पर रहना चाहिए। जो अपने नियमों का पालन करता है, जीवन के
कास का मार्ग उसके लिए खुलता चला जाता है। वह अपने मार्ग पर आगे
ढ़ता चला जाता है।

प्रभु दर्शनीय है—सुन्दर है। जीवात्मा उसके सौन्दर्य पर मुग्ध हो जाता है।
ते जब प्रभु के उस सुन्दर स्वरूप का दर्शन हो जाता है, तब जीवात्मा न जाने
स बाँसुरी के दिव्य स्वरों के सम्पर्श से पुलकित हो जाती है। निराला भी कहते
—

हृदय में कौन जो छेड़ता बाँसुरी?
हुई ज्योत्स्नामयी अखिल मायापुरी।
लीन स्वरसलिल में मैं बन रही मीन।
स्पष्ट ध्वनि मा ध्वनि सजी यामिनी भनी।

यतम, सुन्दरतम ब्रह्म के आह्वान पर प्रेयसी आत्मा अभिसार के पथ पर चल
ती है। उसके सौन्दर्य के सामने सांसारिक मोहजाल, लोकलाज बनकर उसके
ों को पीछे खींचते हैं, पर प्रियतम के चरणों के सिवा अन्यत्र शरण ही
हाँ है?

और मुखर पायल स्वर करें बार-बार।
प्रियपथ पर चलती सब कहते शृंगार।
शब्द सुना हो तो अब लौट कहाँ जाऊँ?
उन चरणों को छोड़ और शरण कहाँ पाऊँ?

देवी वर्मा ने कहा है, जीवात्मा जब परमात्मा के सौन्दर्य को देख उससे नाता
ड़ लेता है, तब वह उपासना के चरमलक्ष्य को प्राप्त कर लेता है, और वह कह
ता है—

मैं तुमसे हूँ एक, एक है जैसे रश्मि-प्रकाश,
मैं तुमसे हूँ भिन्न-भिन्न ज्यों घन से तड़ित-विलास।

ार की वस्तुओं में जो सौन्दर्य है, जो चेतना है, वह सब उस प्रभु का ही रूप

करते हैं कि उनकी कीर्ति दिगन्त में पहुँच जाती है, और वे लोग स्वय ही अपनी आत्मिक ज्ञानशक्ति से सब बातें यथावत् जान लेते हैं। मन्त्र है—

ये अग्ने चन्द्र ते गिरः शुम्भन्त्यश्वराधसः।
शुष्मेभिः शुष्मिणो नरो दिवश्चिद्येषां बृहत्सुकीर्तिर्बोधति त्मना ॥

—ऋ० ५।१०।

अर्थात्—हे आह्लाददायक तेजस्वी ईश्वर! जो मनुष्य तेरी स्तुतियों में शोभा पाते हैं, वे अश्व आदि धनों में सिद्ध होते हैं। वे मनुष्य बलवान् होकर अपने बल से ऐसे शुभ कर्म करते हैं, जिससे उनका यश द्युलोक से बड़ा हो जाता है तथा इस प्रकार का मनुष्य स्वयं सब-कुछ जानता है।

परमेश्वर के उपासक को सब प्रकार के धन, यश और बल प्राप्त होते हैं। भीखा साहब ने कहा है—

भजन ते उत्तम नाम फकीर,
छमा सील संतोष सरलचित,
दरदवन्त पर-पीर।

परमेश्वर की उपासना का मतलब है, उसके गुणों को अपने में धारण करना। धारण करनेवाला सब प्रकार के ऐश्वर्य प्राप्त करता है। धारण करने का तात्पर्य है कि फकीर नाम की श्रेष्ठता तो केवल भजन के कारण है, मगर फकीर कैसा ? जो क्षमाशील हो, सतोषी हो, सरलचित्त हो, जो दूसरों के दुःख-दर्द को जानता हो, दूसरों की पीर को पहचानता हो।

नानकदेव ने कहा है कि उपासक वही हो सकता है, भगवान् उसी के पास बसते हैं, जिसने पर-धन और पर-स्त्री का त्याग कर दिया है—

परधन परदारा परिहरी,
ताके निकट बसे नरहरी।

'दरिया' साहब का कहना है कि वही सच्चा उपासक है, वही सच्चा सन्त है, जिसके दिल में कपट नहीं, पक्षपात नहीं, बाहर और भीतर जिसका रूप एक है। फिर वह व्यक्ति चाहे गृहस्थ हो, चाहे वेषधारी साधु—

'दरिया' लच्छन साधु का, क्या गिरही क्या भेष।
निष्कपटी निरपच्छ रही, बाहर भीतर एक ॥

सच्चे प्रभुभक्त साधु या उपासक को लक्ष्य रखकर बताया है

कि वही व्यक्ति परमेश्वर का प्रिय है—

साध संतोषी सर्वदा, निर्मल जाके बैन,
ताके दरश व परस तें, जिय उपजें सुख-चैन।

जिसकी आत्मा में सदा संतोष-ही-संतोष है, जिसके वचन निर्मल, निर्विकार हैं, वही सच्चा साधु है, उसका दर्शन और स्पर्श करते ही हृदय में आनन्द का स्रोत उमड़ पड़ता है।

'दादूदयाल' ने तो यहाँ तक कहा है—

हरिभज साफल जीवना, पर उपकार समाइ,
'दादू' मरना तहँ भला, जहँ पशु-पखी खाई।

अर्थात् जीवन सफल तो तब है कि जब तक जीवित रहे, हरि का भजन करता रहे और परोपकार में अपने मन को पिरो दे, और जब मरे तो ऐसी जगह मरे कि किसी को पता भी न चले, शरीर पशु-पक्षियों के खाने के काम आ जाय।

जिहि घट दीपक ईश का, तिहि घट तिमिर न होइ।
उस उजियारे जोति के, सब जग देखें सोइ।।

जिस घट के अन्दर ओ३म् का दीपक जल रहा है, वहाँ अज्ञान-अन्धकार प्रवेश नहीं करता। उस परमज्योति के प्रकाश में सारा जगत् दृष्टिगोचर होता रहता है।

फिर कहते हैं—

सोइ जन साधू, सिद्ध सो, सोइ सकल सिरमौर।
जिहिं के हिरदैं हरि बसैं, दूजा नाहीं और।।

जिसके हृदय में केवल भगवान् का वास है, दूसरी किसी वस्तु के लिए स्थान ही नहीं—वही भक्त है, वही साधु है, वही सिद्ध है और वही सबमें सिरमौर है।

इतिहास के उदाहरण उठाकर देखिए। आपको पता लगेगा कि शरीर और आत्मा की इच्छाओं में महान् अन्तर होता है। संसार के सिरमौर पुरुषों की अभिलाषाएँ वास्तव में ईश्वरीय प्रेरणा का फल हैं। ये अभिलाषाएँ उनके मन का द्वार खोल देती हैं और वे कठिनाइयों को पार कर संसार को कुछ दे जाते हैं। मनुष्य को प्रगतिपथ पर आगे बढ़ानेवाली वह विलक्षण शक्ति ईश्वर की प्रेरणा है, जो सृष्टि की प्रत्येक वस्तु को सदा ही आगे की ओर बढ़ाती जाती है। जिस मनुष्य के हृदय में ईश्वरीय प्रेरणा उठती होगी वह मनुष्य आत्मशक्ति प्राप्त

करेगा। आत्मशक्ति उसे साहस, बल या शक्ति देगी। यह शक्ति, यह विश्वास उसके सामने जीवन में समाज, धर्म, नीति तथा विज्ञान के क्षेत्र में नई प्रेरणा देंगे, और वह अद्भुत कार्य कर समाज का सिरमौर हो जाएगा। 'गोडियर' रबड़ का आविष्कारक बनने से पूर्व संसार में कुछ कर दिखाना चाहता था। उसे ईश्वरीय प्रेरणा थी कि तुम कुछ करने को आये हो और वह सफल हुआ। साइरूस डब्ल्यू. फील्ड के मन में समुद्री तारों की एक अद्भुत कल्पना थी। यदि वह निराशाओं के बावजूद उस कल्पना को आगे न बढ़ाता तो संसार के बड़े-बड़े देश भी बेतार के तार से वंचित रहते। मारकोनी के सपनों के बिना शायद टेलीफोन का आविष्कार एक शताब्दी और रुक जाता। अलेक्जेण्डर ग्राहमबेल ने कठिनाइयों को सहते-सहते अपने कदम न बढ़ाये होते तो टेलीफोन का लाभ हम न उठा पाते। सिलाई की मशीन की कल्पना यदि इलियस होव ने न की होती तो क्या हम घरों पर अपने कपड़े सिलवा सकते? यदि लिंकन ने ईश्वर पर विश्वास करके स्वतन्त्रता की आवाज न बुलन्द की होती तो क्या अमरीका इतना उन्नत हो पाता? इसलिए जीवन में आगे बढ़ने और सफलता प्राप्त करने के लिए ईश्वर की भक्ति करो, उपासना करो, उससे आत्मिक शक्ति और प्रेरणा मिलेगी, और उससे जीवन में सफलता भी। मुण्डक उपनिषद् में प्रभु की महिमा का वर्णन करते हुए कहा गया है—

> बृहच्च तद् दिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत् सूक्ष्मतरं विभाति।
> दूरात् सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम्॥
>
> —मुण्डक ३।१।७

वह महान् है, दिव्य है, अचिन्त्यरूप है, और सूक्ष्म-से-सूक्ष्मतर प्रतीत होता है। दूर से अधिक दूर है, तथापि वह हमारे निकट है। देखनेवालों के अन्दर वह यहीं हृदय की गुफा में छिपा हुआ है।

श्वेताश्वतरोपनिषद् ने और भी बल देते हुए प्रभु के गुणों का वर्णन किया है और उसकी उपासना की शिक्षा दी है—

> एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
> कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता: केवलो निर्गुणश्च॥
>
> —श्वेता० ६।११

वह देव एक है। सभी प्राणियों एवं वस्तुओं में छिपा हुआ है, सर्वव्यापक है, सब

ों का अन्तरात्मा है, कर्मों का अधिष्ठाता है, वह भूतों का आधार है, साक्षी
न है, केवल है और निर्गुण है।

इसी उपनिषद् में कहा गया है, बस उसी को जानो, यही उपनिषदों
म रहस्य है—

सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवार्पितम्।
आत्मविद्यातपोमूलं तद् ब्रह्मोपनिषत् परम्॥

सर्वव्यापी परमात्मा दूध में मक्खन की तरह सारे विश्व में समाया हुआ है
त्मविद्या' और 'तप' उसकी प्राप्ति के मूल हैं। वह ब्रह्मोपनिषद् का पर
स्य है।

कवि के शब्दों में हम कहेंगे—

वही अचेतन इस शरीर में, एक चेतनामय है।
वही विनश्वर विश्वजगत् में, अमृतरूप अभय है।
वही काव्यमय है, सुन्दर है, सर्वशक्तिसम्पन्न महान्।
प्रेमभाव से शीश नवाकर करते सब उसका ही ध्यान।
रूठ जाए दुनिया, तुम केवल बने रहो मेरे स्वामी।
मैं तुममें तुम मुझमें लय हो रमे रहो अन्तर्यामी।

□

आत्मा का स्वरूप

आत्मा क्या है ? इस संसार में ईश्वर, जीव और प्रकृति तीन वस्तुएँ अनादि इनका कभी जन्म नहीं होता और न कभी मरण होता है। आत्मा अमर है। रण्यक उपनिषद् में मैत्रेयी को आत्मतत्त्व का उपदेश करते हुए महर्षि वल्क्य ने कहा था—

अविनाशी वा अरेऽयमात्मानुच्छित्तिधर्मा। —४।५।१४

हे मैत्रेयी ! यह आत्मा अमर और अच्छेद्य है।

कठोपनिषद् २।१८ में भी आत्मा को अजर और अमर बताया गया है—

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

यह चैतन्यस्वरूप आत्मा न जन्मता है, न मरता है, न यह किसी दूसरे से न्न हुआ है, न कोई दूसरा ही इससे उत्पन्न हुआ है। यह अजन्मा है, नित्य है, वत और सनातन है, शरीर के मारे जाने पर भी यह नहीं मरता। मरना मारना सब शरीर में है। आत्मा न कभी मरता है, न कोई उसे मार सकता शास्त्रादि से देह कट जाने पर भी देह में स्थित यह आत्मा ज्यों का त्यों बना ता है। जिस प्रकार मकान के नष्ट होने से उसमें स्थित आकाश नष्ट नहीं होता, प्रकार देहादि के नाश से आत्मा का नाश नहीं होता।

यही श्लोक गीता (२।२०) में थोड़े-से शब्दान्तर से आया है—

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

यह आत्मा न कभी जन्मता है, न मरता है; यह आत्मा कभी होकर फिर कभी होगा ऐसा भी नहीं है। यह आत्मा तो अजन्मा, सदा रहनेवाला, स्थिर और दि है। शरीर के नष्ट होने पर भी इसका नाश नहीं होता।

गीता और कठोपनिषद् ये दोनों ग्रन्थ आत्मा की अमरता का प्रतिपादन करते हैं। कठोपनिषद् २।१६ में यमराज कहते हैं—

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥

अज्ञानी मारनेवाला समझता है कि मैं इसे मारता हूँ और मरनेवाला समझता है "मैं मरा हूँ" परन्तु ये दोनों ही नहीं समझते हैं; क्योंकि यह आत्मा न तो किसी को मारता है और न कोई मरता ही है।

कठोपनिषद् २।२२ में आत्मा के विषय में कहा गया है—

अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति॥

यह आत्मा समस्त अनित्य शरीरों में रहते हुए भी शरीररहित है, समस्त अस्थिर पदार्थों में विद्यमान होते हुए भी स्थिर है, इस नित्य आत्मा को जो जान लेता है वह शोक से तर जाता है।

न्यायदर्शन १।१।१० में आत्मा का लक्षण करते हुए बतलाया गया है—

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्।

इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान आत्मा के लक्षण हैं।

'आत्मा' शब्द का अर्थ ही यह है—'आत्मानं जानातीति आत्मा' अर्थात् जिसे अपने आपकी प्रतीति हो वह आत्मा है।

कुछ लोग कहते हैं आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। तब क्या चेतना का ही नदी की धार की तरह, दीपशिखा के ज्वलन की तरह, प्रत्ययों के सहचार की तरह प्रवाह बह रहा है, जिनके जोड़ को, पुञ्ज को ही भ्रमवश हम आत्मा का नाम दे देते हैं? डेकार्ट (१५९६-१६५०) का कहना है कि मान भी लें आत्मा नहीं है, तो भी यह तो मानना पड़ता है कि मैं सन्देह करता हूँ कि आत्मा है या नहीं है। अगर यह मान लिया जाए कि मैं सन्देह करता हूँ, तो विवश होकर यह मानना पड़ेगा कि मैं विचार करता हूँ। जो विचार करेगा वही तो सन्देह कर सकेगा कि मैं हूँ या नहीं हूँ। अगर मैं विचार करता हूँ तो यह निश्चित हो गया कि 'मैं' हूँ। डेकार्ट की आत्मसिद्धि की इस युक्ति को—Cognito ergo sum—कहा जाता है 'मैं विचार करता हूँ, इसलिए मैं हूँ'।

आत्मा के विषय में शंकराचार्य की विचारधारा का उल्लेख करते हुए

श्री बलदेव उपाध्याय अपने ग्रन्थ 'भारतीय दर्शन' (पृ० ३४८) में लिखते हैं "वर्तमान को इस समय मैं जानता हूँ, अतीत को मैंने जाना, अनागत को मैं जानूँगा—इस अनुभव परम्परा में ज्ञातव्य वस्तु का ही परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है, परन्तु ज्ञाता का रूप कथमपि परिवर्तित नहीं होता, क्योंकि वह सर्वदा अपने स्वरूप में विद्यमान रहता है।" शंकराचार्य ने अन्यत्र इसी तत्त्व का प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि "सब किसी को आत्मा के अस्तित्व में भरपूर विश्वास है, ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है जो विश्वास करे कि 'मैं नहीं हूँ'। यदि आत्मा न होता, तो सब किसी को अपने न रहने में विश्वास होता, परन्तु ऐसा तो कभी होता नहीं, अत आत्मा की स्वत सिद्धि माननी ही पड़ती है।

बृहदा० (२।४।१४) में भी याज्ञवल्क्य ने आत्मा के लिए इसी युक्ति का उपयोग किया है। वहाँ लिखा है 'विज्ञातारं अरे केन विजानीयात्' जो जान रहा है, उसे किसी दूसरे से कैसे जाना जा सकता है, अर्थात् 'मैं जान रहा हूँ' इतना ही क्या आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त नहीं है? अस्तु।

आइए, वेद द्वारा आत्मा के स्वरूप को हम देखें—

पाकः पृच्छामि मनसाविजानन् देवानामेना निहिता पदानि।
वत्से बष्कयेऽधि सप्त तन्तून् वि तत्निरे कवय ओतवा उ॥

ऋ० १।१६४।५

(पाकः) मैं पकाने योग्य=अपक्वमति अर्थात् हमारी बुद्धि परिपक्व नहीं इसलिए (पृच्छामि) पूछता हूँ (मनसा) मन से बारम्बार विचार करने पर भी (अविजानन्) न जानता हुआ मूढ़-सा हो रहा हूँ, क्योंकि (एना पदानि) ये जिज्ञासा के विषयभूत पद (देवानां) केवल विद्वानों के निकट ही (निहिता) स्थापित हैं, इसलिए मैं विद्वानों से जिज्ञासा करता हूँ। [कौन विषय जिज्ञास्य है सो आगे कहते हैं] (कवयः) कविगण (ओतवै उ) तिर्यक् तन्तुओं को बुनने के लिए (बष्कये) सत्य-स्वरूप (वत्से अधि) वत्स के ऊपर (सप्त तन्तून्) सात तन्तुओं को (वितत्निरे) विस्तीर्ण करते हैं।

इस मन्त्र का भाव यह है कि इस सत्यस्वरूप जीवात्मा के वेष्टन के लिए अर्थात् बन्धन के लिए दो नेत्र, दो कर्ण, दो नासिका और मुख का निर्माण ईश्वरीय नियम से होता है। मुख सातवाँ लोक माना गया है। इस लोक में दर्शन और श्रोत्र

है। इससे हम वेद का उच्चारण करते हैं, भगवान् का भजन करते हैं, नाना प्रकार की वस्तुओं को खाकर, चबाकर उदर में रखते हैं जिससे रक्त आदि पदार्थ बन-कर शरीर को पुष्ट करते हैं, परन्तु प्रश्न उत्पन्न होता है कि यह मनुष्य जीवात्मा को बन्धन में क्यों डालते है ? यह जीवात्मा किस अपूर्व कर्म द्वारा बद्ध होता है ?

एक दूसरे मन्त्र में जीवात्मा के विषय में कहा गया—

अचिकित्वाञ्चिकितुषश्चिदत्र कवीन्पृच्छामि विद्मने न विद्वान्।
वि यस्तस्तम्भ षळिमा रजांस्यजस्य रूपे किमपि स्विदेकम्॥

ऋ० १।१६४।६

(अचिकित्वान्) पृथिव्यादि तत्त्वों को न जानता हुआ मैं (चिकितुषः) विशेषरूप से तत्त्व जाननेवाले (कवीन्) परमार्थदर्शी विद्वानों से (अत्र) इन तत्त्व के विषय में (पृच्छामि) पूछता हूँ, [क्यों ?] (विद्मने) परमार्थ ज्ञान के लिए। (विद्वान् न) न जानता हुआ ही पूछता हूँ— [किसी को पराजित करने के लिए नहीं पूछता।] (यः) जिस अजन्मा ने (इमाः) इन (षट्) छह (रजांसि) लोकों को (वि तस्तम्भ) विशेष रूप से धारण किया है (अजस्य) उस जन्मादिरहित अजन्मा जीवात्मा के (रूपे) स्वरूप में (किमपि एकम्) कुछ अचिन्त्य एवं सामर्थ्य (स्वित्) क्या विद्यमान है जिससे यह सम्पूर्ण भुवन एक स्थान में स्थित है।

एक अन्य मन्त्र में कहा गया है—

न वि जानामि यदिवेदमस्मि निण्यः सन्नद्धो मनसा चरामि।
यदा मागन् प्रथमजा ऋतस्यादिद्वाचो अश्नुवे भागमस्याः॥

ऋ० १।१६४।३७

(यदिव) जो (इदम्) यह वस्तु (अस्मि) मैं हूँ (न वि जानामि) इसको मैं नहीं जानता हूँ, क्योंकि मैं (निण्यः) मूढ़चित्त हूँ (सन्नद्धः) अविद्या से सम्यक् बद्ध होकर (मनसा चरामि) विक्षिप्त मन से विचरण करता हूँ (यदा) जब (ऋतस्य) सत्यज्ञान का (प्रथमजाः) प्रथम उन्मेष (मा आगन्) मुझको प्राप्त होता है (आत् इत्) तदनन्तर (अस्याः वाचः) इस वचन का (भागं) प्राप्य अर्थ (अश्नुवे) समझता हूँ अथवा (ऋतस्य प्रथमजाः) ऋत का प्रसिद्ध उत्पादक परमेश्वर (मा आगन्) प्राप्त होता है (आत् इत्) तत्पश्चात् (अस्याः वाचः भागं) इस वाणी के बोध्यार्थ अंश पद का अर्थ (अश्नुवे) समझता हूँ।

मनुष्य अपने को नहीं जानता। भाषा साहित्य के प्रारम्भ से लेकर आज एक विवाद चला आ रहा है कि इस शरीर से पृथक् कोई जीवात्मा है या ? जीवन का पृथक्-अस्तित्व माननेवालों में भी अनेक भेद हैं। कोई इस आत्मा को अणु, कोई विभु, और वेदान्ती जीव और ईश्वर में कोई भेद नहीं ते। वास्तव में यह प्रश्न कि आत्मा की लम्बाई-चौड़ाई या परिमाण क्या है, य विचारणीय है। बहुत-से पाश्चात्य विचारक आत्मा के परिमाण के महत्त्व नहीं मानते हैं। उनका कहना है कि यह प्रश्न वैसा ही है जैसे कोई कहे शब्द क्या रंग है? अथवा वर्णव्यवस्था की प्रतिघटा गति क्या है? आत्मा स्थान नेवाली वस्तु नहीं, अत. आत्मा के विषय में परिमाण का प्रश्न लागू ही नहीं ा। आत्मा एक चिन् सत्ता है। इसका गुण विचार है, विस्तार नहीं। भारतीय नों ने आत्मा के परिमाण के विषय में विचार किया है। यह तीन प्रकार का ार आया है—

(१) मध्यम अर्थात् सांसारिक पदार्थों के समान सकुचित और विकसित वाला परिमाण।

(२) विभु अर्थात् अधिक-से-अधिक विस्तृत, आकाश की तरह सर्वव्यापक वाला परिमाण।

(३) अणु अर्थात् छोटे-से-छोटा परिमाण।

यदि आत्मा को मध्यम परिमाण माना जाए तो सबसे बड़ी कठिनाई यह ी कि विविध योनियों के भिन्न-भिन्न परिमाणवाले शरीरों में आत्मा कैसे वष्ट हो सकेगी। मनुष्य का शरीर आयु के साथ बढ़ता रहता है जबकि आत्मा ी रहती है। ऐसी अवस्था में जो आत्मा बचपन में सम्पूर्ण शरीर में होगी, यौवन काल में शरीर के एक भाग में रह जाएगी। मध्यम परिमाण मानने- लों का मुख्य प्रयोजन तो यही है कि आत्मा सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होने से ीर के सब भागों का ज्ञान प्राप्त कर सके। यदि आत्मा को संकोच-विकासशील र्थात् घटने-बढ़नेवाली मान लिया जाए तो वह अपरिवर्तनशील और नित्य नहीं सकती। अपरिवर्तनशील न होने पर परिवर्तनशील आत्मा चेतनता का आधार नहीं बन सकती, न ही कर्मफल भोगने के योग्य हो सकती है।

दूसरा प्रश्न विभु का है। महर्षि दयानन्द से सत्यार्थप्रकाश में प्रश्न पूछा या है—"जीव शरीर में भिन्न विभु है या परिच्छिन्न?" स्वामीजी ने उत्तर

दिया "परिच्छिन्न है, जो विभु होता तो जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, मरण, जन्म, संयोग, वियोग, जाना, आना कभी नहीं हो सकता।" (सप्तम समुल्लास)

विभु अर्थात् सर्वव्यापक होने पर अनेक आत्माएँ एक साथ कैसे विभु हो सकती है ? अर्थात् सब एक ही स्थान में कैसे रह सकते है ? यहाँ यह आशंका हो सकती है कि वायु, ईथर [आकाश] और विद्युत् इकट्ठे एक ही स्थान में कैसे रहते हैं ? वायु और आकाश [ईथर] सूक्ष्म प्रकार के पदार्थ हैं। प्राकृतिक पदार्थ अवयवों से बने रहते हैं। इन अवयवों के बीच छोटे-छोटे अन्तरों में सूक्ष्म प्रकार की प्रकृति वायु, आकाश आदि के रूप में रह सकती है। विद्युत् पदार्थ नहीं शक्ति है, पर यह विस्ताररहित होने से पदार्थों के साथ रह सकती है, परन्तु आत्मा तो अवयवों से बनी हुई है नहीं। उसके अवयवों के बीच में छोटे-छोटे अन्तर नहीं हैं। सब आत्मा एक ही समान सूक्ष्म हैं। इसलिए एक ही स्थान में एक से अधिक आत्मा इकट्ठी नहीं रह सकती।

इस प्रकार आत्मा अणु है। यदि आत्मा विभु हो तो उसके आवागमन का कुछ अर्थ नहीं। प्रत्येक आत्मा जब नित्य रूप से सब शरीरों में विद्यमान है ही, तो उसके एक शरीर को छोड़कर दूसरे में जाने का कुछ अभिप्राय नहीं।

दूसरी आपत्ति विभु मानने से यह होगी कि आत्मा का किसी शरीर से सम्बन्ध विच्छेद नहीं हो सकेगा—किसी की मृत्यु नहीं हो सकेगी।

तीसरी आपत्ति विभु मानने से यह होगी कि आत्मा का किसी विशेष शरीर से सम्बन्ध न होकर ससार के समस्त शरीरों से अविशेष सम्बन्ध रहेगा और सबके मन के साथ भी यही बात लागू होगी।

चौथी बात है, विभु आत्मा के स्वर्ग और मोक्ष आदि में जाने की बात निरर्थक हो जाएगी।

पाँचवीं बात यह होगी कि मैं जाता हूँ, मैं खड़ा हूँ, 'मैं' से आत्मा का ग्रहण नहीं होगा।

उपर्युक्त मन्त्रों में यह बात कही गई है कि जीवात्मा को हम कैसे जानें ? स्वामीजी महाराज ने जो इसे अणु माना है, वह सिद्धान्त अधिक उपयुक्त और ठीक है। कुछ लोग कहते हैं कि आत्मा यदि अणु है तो वह सारे शरीर का अनुभव कैसे करता है ? इसका उत्तर यह है कि आत्मा एक आध्यात्मिक सत्ता है [illegible] उसके लिए कोई बाधा नहीं।

अब प्रश्न उत्पन्न होता है यदि जीव अणु है तो वह अल्पज्ञ, अल्प और सूक्ष्म होगा। फिर इसका ईश्वर से सम्बन्ध कैसे होता है ? जिस जगह एक वस्तु होती है उस जगह में दूसरी वस्तु नहीं रह सकती, इसलिए ईश्वर का सयोग सम्बन्ध हो सकता है व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध नहीं। महर्षि दयानन्द ने इसका उत्तर दिया है और लिखा है "यह नियम समान आकारवाले पदार्थों में घट सकता है, असमान-आकृति में नहीं। जैसे लोहा स्थूल, अग्नि सूक्ष्म होता है, इस कारण से लोहे में विद्युत् अग्नि व्यापक होकर एक ही अवकाश में दोनों रहते हैं, वैसे जीव परमेश्वर से स्थूल और परमेश्वर जीव से सूक्ष्म होने से परमेश्वर व्यापक और जीव व्याप्य है। जैसे यह व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध जीव ईश्वर का है वैसे ही सेव्य-सेवक, आधाराधेय, स्वामी-भृत्य, राजा-प्रजा और पिता-पुत्र आदि भी सम्बन्ध हैं।"

(सप्तम समुल्लास)

छान्दोग्योपनिषद् ६।८।७ में लिखा है—

स य एषोऽणिमा। ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा
तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति।।

वह परमात्मा जानने योग्य है, जो अत्यन्त सूक्ष्म और इस सब जगत् और जीव का आत्मा है, वही सत्यस्वरूप और अपना आत्मा आप ही है। हे श्वेतकेतो प्रियपुत्र! 'तदात्मकस्तदन्तर्यामी त्वमसि' उस परमात्मा अन्तर्यामी से तू युक्त है। बृहदारण्यक उपनिषद् में ईश्वर और जीव का व्यापक-व्याप्य सम्बन्ध बतलाया गया है—

य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्य आत्मा शरीरम्,
आत्मनोऽन्तरो यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृतः।।

महर्षि याज्ञवल्क्य उद्दालक से कहते हैं कि हे उद्दालक ! जो परमेश्वर अर्थात् आत्मा जीवों में स्थित और जीवात्मा से भिन्न है जिसको मूढ़ जीवात्मा नहीं जानता कि वह परमात्मा मेरे में व्यापक है, जिस परमेश्वर का जीवात्मा शरीर अर्थात् जैसे शरीर में जीव रहता है वैसे ही जीव में परमेश्वर व्यापक है, जीवात्मा से भिन्न रहकर जीव के पाप-पुण्यों का साक्षी होकर उनके फल जीवों को देकर नियम में रखता है, वही अविनाशी-स्वरूप तेरा भी अन्तर्यामी आत्मा तेरे भीतर व्यापक है, उसको तू जान।

इस प्रकार महर्षि दयानन्दजी ने जीव को अणु और सूक्ष्म माना है। उपनिषद्

ने इसी चीज के लिए कहा है—'प्रतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति' ध्यानी जन इन श्रोत्र, मन, वाणी आदि के बन्धन से छूटकर इस लोक से छूट होकर अमृत—अमर हो जाते हैं।

इन इन्द्रियों के बन्धन से छूटने का क्या प्रयोजन है? प्रयोजन यह है कि इन्हें परमतत्त्व तक पहुँच ही नहीं, आत्मा ही से आत्मा को देखा जा सकता है। इस उपनिषद् ने बताया है 'न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो' वहाँ, उस परम तत्त्व में आँख नहीं पहुँचती, न वाणी, न मन जाता है। हाँ, यह सच है कि इस संसार, संसार के सारे पदार्थ, सारी इन्द्रियाँ और सारे भूत उसी की प्रेरणा से कार्य में लगे हुए हैं। वह प्रेरक देव महान् है। उसे पूरा नहीं जाना जा सकता। जाननेवाला यह जीव अणु है, अल्प है, अल्पज्ञ है। वह ब्रह्म इन्द्रियों से नहीं जाना जाता। 'आत्मनाऽऽत्मानमभि संविवेश' आत्मा के द्वारा ही उस परम आत्मा की उपासना की जाती है।

यम ने कठोपनिषद् ३।१० में कहा है—

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥

इन्द्रियों से परे अर्थ हैं, अर्थों से श्रेष्ठ मन है, मन से श्रेष्ठ बुद्धि है, बुद्धि से परे आत्मा है। इस आत्मा के द्वारा परमात्मा को प्राप्त करने के लिए आत्मा के स्वरूप को समझना, उसका चिन्तन, मनन करना आवश्यक है।

मुण्डकोपनिषद् ३।१।७ में कहा है—

बृहच्च तद् दिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत् सूक्ष्मतरं विभाति।
दूरात् सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम्॥

वह ब्रह्म महान् है, दिव्य है, अचिन्त्यरूप है और सूक्ष्म से सूक्ष्मतर प्रतीत होता है। दूर से अधिक दूर है तथापि यहाँ भी हमारे निकट है। देखनेवालों के लिए वह यहीं हृदयरूपी गुफा में छिपा हुआ है।

श्वेताश्वतरोपनिषद् ६।११ में कहा है—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥

का साक्षी है, चेतन है; केवल है और निर्गुण है।

आइए, इस अणु आत्मा को महान् परमेश्वर में लगाएँ।

मन और वाणी का धारक जीवात्मा

पतङ्गो वाचं मनसा बिभर्ति तां गन्धर्वोऽवदद् गर्भे अन्तः।
तां द्योतमानां स्वर्यं मनीषामृतस्य पदे कवयो नि पान्ति ॥

—ऋ० १०।१७७।२

(पतङ्ग) जीवात्मा (मनसा) मन के साथ (वाचं) वाचाशक्ति को (बिभर्ति) धारण करता है। (तां) उसी वाणी को (गन्धर्वः) शब्द का धारक प्राण (गर्भे अन्तः) अन्दर ही अन्दर (अवदत्) बोलता है (तां) उस (द्योतमानां) तेजस्वी (स्वर्यं) आत्मप्रकाशस्वरूप (मनीषां) मनोगत प्रकट करनेवाली वाणी को (ऋतस्य पदे) सत्य के स्थान पर अथवा सत्य के ज्ञापक वेद के निमित्त (कवयः) ज्ञानी (निपान्ति) सुरक्षित करते हैं।

हम जो कुछ कहना या बोलना चाहते हैं उस बात को जीवात्मा मन के अन्दर प्रेरित करता है। उसके बाद उस प्रेरणा से प्राणशक्ति को प्रेरणा प्राप्त होती है। प्राणशक्ति ... या प्रकाश जिसे वाणी कहते हैं, उत्पन्न होती

इसको दूसरे शब्दों में हम इस प्रकार कह सकते हैं कि यदि पंचभूत—आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी हों, ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियां भी हों, मन विद्यमान हो, परन्तु एक आत्मा के शरीर में न रहने पर तो इस शरीर के विद्यमान होते हुए भी कोई कार्य नहीं हो सकेगा। इस विषय में भागवत का यह श्लोक देखिए—

एवं पञ्चविंशतिभिस्तत्त्वैः लिङ्गवपुर्गृहे।
जीवात्मा नियतेर्विघ्नो वर्तते स्यात्तद्रूपवान्॥

अर्थात् चौबीस तत्त्वों द्वारा निर्मित इस प्राकृतिक शरीररूपी घर में नियति (कर्मों) के अधीन हुआ मनरूपी रूपवाला जीवात्मा वास करता है।

इस प्रकार मन के संयोग से जीवात्मा सभी कार्यों का प्रेरक है, कर्ता है। वास्तव में जीवात्मा और शरीर का एक विशेष सम्बन्ध है। वह सम्बन्ध यह है कि शरीर आत्मा के भोग का साधन है। शरीर और आत्मा का वास्तविक सम्बन्ध भोक्ता और भोग्य का, कर्ता और कर्म का, साधक और साधन का है। मनुष्य ही मकान में रह सकता है, मकान मनुष्य में नहीं रह सकता। चेतन ही जड़ का उपभोग कर सकता है, जड़ चेतन का उपभोग नहीं कर सकता, शरीर ही आत्मा का साधन हो सकता है, आत्मा शरीर का साधन नहीं हो सकता। शरीर आत्मा नहीं है, शरीर आत्मा का साधन है, आत्मा शरीर का भोक्ता है, शरीर रथ है, आत्मा उसका रथी है—आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु। यथार्थ सत्य यही है। यह आत्मतत्त्व अपने स्वरूप को भूलकर स्वयं को रथ और शरीर को रथी समझ रहा है, शरीर के लिए अपने को मिटाये दे रहा है—ठीक इसी जगह इस कमजोरी को निकाल देने की, गलती को पकड़ लेने की आवश्यकता है। आत्मा यह सब कार्य मन के साथ संयुक्त होकर कर रहा है। उसके बिना सभी इन्द्रियां बेकार हैं, पंगु हैं। यही सोचने-समझने की बात है। इसलिए मन्त्र कहता है कि जीवात्मा मन के साथ वाचा-शक्ति को धारण करता है।

आत्मा और शरीर के भेद को समझना आवश्यक है। जो शरीर को ही आत्मा समझ लेते हैं वे राक्षस होते हैं, असुर होते हैं। जो शरीर और आत्मा के भेद को जान लेते हैं, वे देव होते हैं।

कहते हैं प्रजापति ने एक बार घोषणा की "यह अजर, अमर, पाप से रहित

लोकों और इच्छाओं को पूर्ण कर लेता है।" इस घोषणा को देवों और असुरों ने सुना। दोनों ने सोचा 'जिस आत्मा को जान लेने से सभी लोक प्राप्त होते हैं, सभी इच्छाएँ पूर्ण होती हैं, उसे अवश्य जानना चाहिए।' दोनों के प्रतिनिधि इन्द्र और विरोचन प्रजापति के पास गये और बोले "महाराज ! यह आत्मा क्या है ?"

प्रजापति ने ३२ वर्ष ब्रह्मचर्यपूर्वक अपने आश्रम में रहने का आदेश दिया और उसके बाद बताने की बात कही। ३२ वर्ष के बाद जब वे दोनों पहुँचे तो प्रजापति ने शीशे में उन्हें देखने को कहा और पूछा क्या देखते हो ? अपने शरीर के प्रतिबिम्ब को देखकर विरोचन प्रसन्न हुआ और शरीर को आत्मा समझकर असुरों के पास जाकर बोला "यह शरीर ही आत्मा है।" असुर शरीर की सेवा में लग गये। शरीर के लिए मकान, मोटर, बगीचे, कपड़े, रेडियो और सभी सुख के साधन जुटाने में लग गये।

दूसरी ओर देवताओं के प्रतिनिधि इन्द्र को उससे सन्तोष नहीं हुआ और वह बोला, "महाराज ! यह शरीर आत्मा नहीं हो सकता। आप मुझे वास्तविक आत्मा का स्वरूप बतलाइए।" प्रजापति ने उसे ३२ वर्ष और ब्रह्मचर्यपूर्वक आश्रम में रहकर तपस्या करने को कहा। ३२ वर्ष पूरे होने पर तीसरी और चौथी बार उसी प्रकार रहने को कहा। तब जाकर बताया कि आत्मा क्या है। उन्होंने कहा, यह शरीर आत्मा नहीं। शरीर को ही आत्मा समझकर उसकी पूजा करनेवाला विनाश की पूजा करता है।

इस प्रकार यह जीवात्मा शरीर से पृथक् है और मन तथा वाणी का धारक है। कहने का तात्पर्य यह है कि जो शरीर और जीवात्मा इन दोनों को पृथक् समझ लेते हैं और आत्मा की उन्नति में लग जाते हैं, उन्हें वास्तविक आनन्द की अनुभूति होती है, उनके मन में दृढ़ संकल्प आते हैं, जिन्हें वह वाणी अर्थात् इन्द्रियों द्वारा क्रियारूप में परिणत करते हैं।

आत्मा की शक्ति महान् है। उसे जाग्रत् करने पर वह शक्ति संसार में अद्भुत काम कर सकती है। जैसे पाँचों भूत जड़ हैं, पृथिवी बेकार पड़ी है, परन्तु इसकी शक्ति का पता बीज डालने पर चलता है। जल की असीम राशि व्यर्थ में ही बहती जा रही है परन्तु उससे विद्युत् उत्पन्न कर तथा पिपासा की तृप्ति कर उसके महत्त्व और शक्ति को जाना जा सकता है। अग्नि में छिपी शक्ति से रेल, जहाज, तोप, बन्दूक चलती रहती हैं। इसी प्रकार आत्मा में भी असीम शक्ति

आत्मा का दीपक—बुद्धि

आत्मानं ते मनसारादजानामवो दिवा पतयन्तं पतङ्गम् ।
शिरो अपश्यं पथिभि: सुगेभिररेणुभिर्जेहमानं पतत्रि ।।

ऋ० १।१६३।६

हे विद्वन् ! (ते) तेरे (आत्मान) आत्मा को (मनसा) विज्ञान द्वारा (आरात्) दूर या समीप से (अजानाम्) जान गया हूँ, वैसे ही तू भी मेरे आत्मा को जान। तेरे (अव.) प्रीतियुक्त स्वभाव (पतत्रि) उत्थान और पतन या उन्नति और अवनति के स्वभाव तथा (शिरः) आश्रय को मैं जानता हूँ, तू मेरे इन सबको जान। (सुगेभिः) सरल, सीधे (अरेणुभिः) धूलिरहित, साफ-सुथरे (पथिभिः) मार्गों से (पतयन्तम्) जानेवाले (दिवा) द्युलोक मे, अन्तरिक्ष मे (जेहमानम्) यत्न करनेवाले (पतङ्गम्) सूर्य तुल्य जीवात्मा को (अपश्यम्) मैं देखूं।

वेद में जीवात्मा के विषय में कहा गया है कि यह अनेक मार्गों द्वारा शरीर में आता है और शरीर से पृथक् होता है। वह अविनाशी है और वह इन्द्रियों का रक्षक है अर्थात् जबतक वह रहता है तबतक ही ये इन्द्रियाँ, इन्द्रियाँ हैं और अपना देखना, सुनना, बोलना, चखना, सूँघना, चलना, काम करना, स्पर्श करना, मूत्र और शौचादि करना रूप क्रियाएँ करती हैं और इसके चले जाने पर शरीर की इन्द्रियों का कोई मूल्य नहीं रहता। जब यह शरीर से चला जाता है तब शरीर तो नष्ट हो जाता है पर जीवात्मा उस समय भी बचा रहता है। यह अनादि है, परमात्मा व्यापक है, यह व्यापक नहीं, विभु नहीं। इसे 'पतङ्ग' शब्द से भी वेद में पुकारा गया है। पतङ्ग का अर्थ है गति द्वारा स्थानान्तर में जानेवाला। सर्वव्यापक वस्तु में गति नहीं होती। गति के लिए स्थान की जरूरत है, खाली स्थान होने पर ही गति सम्भव है। इस जीवात्मा को 'अक्तम्' भी वेद में कहा गया है। 'अक्तम्' का अर्थ है जो शरीर के सम्बन्ध से प्रकाशित हो अर्थात् शरीर में न रहने पर आत्मा के स्वरूप को हम समझ नहीं सकते—जान नहीं सकते। इसे 'मरीचीनां पदम्' अर्थात् जिस प्रकार सूर्य एक जगह पर रहता हुआ सारे विश्व को अपनी किरणों से आलोकित करता रहता है, वैसे यह भी शरीर में किसी एक स्थान पर रहता हुआ शरीर को चेतना देता रहता है। इसी कारण जीवात्मा और सूर्य के बहुत-से नाम भी समान हैं।

' आत्मा के वास्तविक स्वरूप को जाननेवाले को अपूर्व शक्ति प्राप्त हो जाती है। संसार की सरकारें मनुष्य के लिए डरावनी वस्तुएँ मानी जाती हैं। संसार में बहुत-से सभ्य मनुष्यों पर किये गये इनके अत्याचारों से मनुष्य भयभीत हो जाता है, परन्तु आत्मपथ के यात्री को कौन सता सकता है ?

स्वामी दयानन्द और श्रद्धानन्द के जीवन आत्मशक्ति के देदीप्यमान दीपक हैं। वे ज़ोर देकर अत्याचारियों से, विरोधियों से कहते थे 'हे विरोधियो ! तुम इससे ज्यादा मेरा और कुछ नहीं कर सकते, चाहे तुम अपने पूरे साज और सामान के साथ मुझपर आओ, चाहे अपनी सुसज्जित डरावनी चतुरंगिणी फौज के साथ मुझ अकेले पर आक्रमण करो, चाहे अपनी भुवनों को कँपानेवाली गड़गड़ाहट के साथ मुझपर चढ़ आओ, परन्तु तुम मृत्यु को ही क्लेश की पराकाष्ठा समझकर मुझे मृत्युदण्ड देने, मार सकने के सिवाय कुछ नहीं कर सकते हो। मैं तो फिर जन्म धारण कर सत्य का प्रकाश फैलाऊँगा—बुद्धि को ठीक जँचनेवाले कार्य करूँगा।'

आत्मज्ञ मौत को ललकार कहते हैं—"हे मौत ! तू विकराल 'काल' कहलाती है ! लोग कहते हैं कि तू बड़ी डरावनी है, तेरा नाम सुनते ही दिल काँप उठते हैं। बड़े-बड़े लोग मौत के आने पर छटपटाते मर गये। उनकी कुछ न बन पड़ी। किन्तु हे प्यारी मौत ! यह सब झूठ है। यदि तू ऐसी ही होती तो फाँसी का हुक्म सुनने के बाद भी रामप्रसाद बिस्मिल के चेहरे पर विषाद की छाया क्यों न आती ? गोली खाने के बाद भी स्वामी श्रद्धानन्द का चेहरा और भावनाएँ क्यों न मलिन हो जातीं, लेखराम रेल से कूदकर अपने कर्त्तव्य को पूरा करने के लिए क्यों बढ़ते चले जाते ? स्वामी दयानन्द का मुख विष-पान करके भी मरते समय भी दिव्य आनन्द से प्रफुल्लित क्यों देखा जाता ?

जिस समय यह बुद्धि अपने प्रकाश से आत्मा के वास्तविक स्वरूप का दर्शन करा देती है, जो आत्मा के 'पतत्रि'—उत्थान या पतन या उन्नति और अवनति-स्वभाव को समझ लेते हैं वे ही लोग दुनिया में महान् कार्य कर जाते हैं, उन्हें ही हम महान् आत्मा कहते हैं और उन्हीं महान् आत्माओं के पुण्य प्रताप से ही हम तरह-तरह के सुख भोग रहे हैं, बिना तकलीफ के घण्टों में सैकड़ों मील चले जाते हैं, आकाश की हवा खा लेते हैं, चन्द्रमा को अपने पैरों से रौंद देते हैं, इष्ट-मित्रों के पास सन्देश भेज सकते हैं, रेडियो और टैलीविजन से संसार का समाचार जान सकते हैं। आत्मज्ञानी मनुष्य के चेहरे पर एक ऐसी प्रसन्नता रहती है जो न केवल

जीवात्मा के गुणों का वर्णन करते हुए वेद के एक मन्त्र में कहा गया है—

अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम् ।
स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तः ॥
—ऋ० १।१६४।३१

(आ च परा च) आने और जाने के (पथिभिश्चरन्तम्) मार्गों के द्वारा भ्रमण करनेवाले (अनिपद्यमानम्) अविनाशी (गोपाम्) रक्षक को—इन्द्रियस्वामी को (अपश्यं) मैंने देखा है। (सः) वह (सध्रीचीः) शरीर के साथ भी चलनेवाला है और (विषूचीः) अलग होकर भी चलनेवाला है, (वसानः) वह प्रेम का निवास (भुवनेषु अन्तः) भुवनों के अन्दर (आ वरीवर्ति) बारम्बार आता है अथवा (सः सध्रीचीः विषूचीः वसानः) वह सीधी और टेढ़ी चालें चलता अर्थात् पुण्य-पाप करता हुआ (भुवनेषु अन्तः आ वरीवर्ति) संसार में पुनः-पुनः लौटता है—जन्म-मरण के वश में होता है।

इस प्रकार वेद में आत्मा के गुणों का वर्णन किया गया है। इस मन्त्र में बताया गया है कि आत्मा को ज्ञान के द्वारा जानना चाहिए। जो व्यक्ति आत्मा को जान लेता है, इसकी वास्तविकता को समझ जाता है वह इसे सन्मार्ग की ओर ले जाने का प्रयास करता है, वह संसार में किसी से डरता नहीं—अन्याय के आगे झुकता नहीं—प्रलोभन उसे मार्ग से विचलित नहीं कर सकता।

याद रखिए आत्मा को प्राप्त करने के लिए, उसे समझने के लिए ईश्वर ने प्रत्येक मनुष्य को बुद्धि का दीपक दिया है। इसलिए ईश्वर के प्रति हमारा कर्तव्य है कि हम अपने जीवन का उपयोग बुद्धिमत्तापूर्वक करें, उसे बुद्धिमत्तापूर्वक चलाएँ। प्रत्येक व्यक्ति को ईश्वर उसके लिए आवश्यक बुद्धि देता है परन्तु हम बुद्धि का पूरा उपयोग नहीं करते। यदि जीवन में हम बुद्धि का वास्तव में उपयोग करेंगे तो हमें आत्मा को उत्थान की ओर ले जाने और पतन से बचाने का मार्ग पता चल जाएगा। हमें अपने खान-पान में बुद्धि का उपयोग करना चाहिए। हमें अपने धन का खर्च, अपने शब्दबल का प्रयोग इस प्रकार करना चाहिए कि लोगों में आशा और बल, उत्साह और आत्म-विश्वास आ सके। याद रखिए, बुद्धि आत्मा का दीपक है। इस दीपक का प्रकाश धुंधला न होने दें, न इस प्रकाश की परिधि से दूर जाएँ। इससे आपको आत्मा का वास्तविक स्वरूप समझने और उसे समझकर आत्मा को सन्मार्ग पर ले जाने में सहयोग मिलेगा।

आत्मा के वास्तविक स्वरूप को जाननेवाले को अपूर्व शक्ति प्राप्त हो जाती है। संसार की सरकारें मनुष्य के लिए डरावनी वस्तुएँ मानी जाती हैं। संसार में बहुत-से सभ्य मनुष्यों पर किये गये इनके अत्याचारों से मनुष्य भयभीत हो जाता है, परन्तु आत्मपथ के यात्री को कौन सता सकता है?

स्वामी दयानन्द और श्रद्धानन्द के जीवन आत्मशक्ति के देदीप्यमान दीपक हैं। वे जोर देकर अत्याचारियों से, विरोधियों से कहते थे 'हे विरोधियो! तुम इससे ज्यादा मेरा और कुछ नहीं कर सकते, चाहे तुम अपने पूरे साज और सामान के साथ मुझपर आओ, चाहे अपनी सुसज्जित डरावनी चतुरंगिणी फौज के साथ मुझ अकेले पर आक्रमण करो, चाहे अपनी भुवनों को कँपानेवाली गड़गड़ाहट के साथ मुझपर चढ़ आओ, परन्तु तुम मृत्यु को ही क्लेश की पराकाष्ठा समझकर मुझे मृत्युदण्ड देने, मार सकने के सिवाय कुछ नहीं कर सकते हो। मैं तो फिर जन्म धारण कर सत्य का प्रकाश फैलाऊँगा—बुद्धि को ठीक जँचनेवाले कार्य करूँगा।'

आत्मज्ञ मौत को ललकार कहते हैं—"हे मौत! तू विकराल 'काल' कहलाती है! लोग कहते हैं कि तू बड़ी डरावनी है, तेरा नाम सुनते ही दिल काँप उठते हैं। बड़े-बड़े लोग मौत के आने पर छटपटाते मर गये। उनकी कुछ न बन पड़ी। किन्तु हे प्यारी मौत! यह सब झूठ है। यदि तू ऐसी ही होती तो फाँसी का हुक्म सुनने के बाद भी रामप्रसाद बिस्मिल के चेहरे पर विषाद की छाया क्यों न आती? गोली खाने के बाद भी स्वामी श्रद्धानन्द का चेहरा और भावनाएँ क्यों न मलिन हो जातीं, लेखराम रेल से कूदकर अपने कर्तव्य को पूरा करने के लिए क्यों बढ़ते चले जाते? स्वामी दयानन्द का मुख विषपान करके भी मरते समय भी दिव्य आनन्द से प्रफुल्लित क्यों देखा जाता?

जिस समय यह बुद्धि अपने प्रकाश से आत्मा के वास्तविक स्वरूप का दर्शन करा देती है, जो आत्मा के 'पतत्रि'—उत्थान या पतन या उन्नति और अवनति-स्वभाव को समझ लेते हैं वे ही लोग दुनिया में महान् कार्य कर जाते हैं, उन्हें ही हम महान् आत्मा कहते हैं और उन्हीं महान् आत्माओं के पुण्य प्रताप से ही हम तरह-तरह के सुख भोग रहे हैं, बिना तकलीफ के घण्टों में सैकड़ों मील चले जाते हैं, आकाश की हवा खा लेते हैं, चन्द्रमा को अपने पैरों से रौंद देते हैं, इष्ट-मित्रों के पास सन्देश भेज सकते हैं, रेडियो और टेलीविजन से संसार का समाचार जान सकते हैं। आत्मज्ञानी मनुष्य के चेहरे पर एक ऐसी प्रसन्नता रहती है जो न केवल

स्वय ही आनन्दित होता है, परन्तु उस मनुष्य की ओर देखकर जिसके मुख-मण्डल पर आत्मा के आनन्द का प्रकाश फैल रहा हो, हमारे मन मे दिव्यभाव द लगते हैं, उदासी, निरुत्साह, निराशा दूर होने लगती है, आनन्द, आशा और उत्सा का मनोहर आलोक फैलता जाता है। आप बुद्धि द्वारा आत्मा के आनन्द क बढ़ाइए। आनन्द—स्वर्गीय आनन्द के प्रवाह मे तन्मय रहिए, अपनी आत्मा क आनन्दमय प्रभु की ओर उन्मुख कीजिए। सदा आनन्द की मधुर रेखा से अप मुखमण्डल की दिव्यता बढाते रहिए। याद रखो यह आत्मा उस दैवी प्रवाह की ओर जाना चाहता है जहाँ सत्य है, आनन्द है और वह है ईश्वर। जब-जब हम बुरा काम करते हैं, जब-जब हम सत्य से विचलित होते हैं, जब कभी हम धोखा और बेईमानी का काम करते हैं तब-तब हम सर्वशक्तिमान् आनन्दस्वरूप उस दिव्य सत्ता से अपनी आत्मा को दूर करते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि भय, शंकाएँ और सन्देह हमपर अपना अधिकार कर हमें अपना शिकार बना लेते हैं। उस दिव्य सत्ता से अलग होने पर हमारी दशा उस निस्सहाय बालक की-सी हो जाती है जो घोर अन्धकार मे छोड़ दिया गया हो।

आइए, बुद्धि द्वारा हम उस अरेणुभि =धूलरहित पतङ्गम्—सूर्य तुल्य जीवात्मा के दर्शन करें। जब हम उसके दर्शन कर लेंगे तो इस संसार के कष्ट दूर हो जाएँगे। इस जीवन-मन्दिर के आकाश मे कोई दुःख की छाया नहीं पड़ सकेगी। तब 'इस जीव' के अनन्त, अविनाशी आनन्द में जगत् की कोई भी वस्तु बाधा न डाल सकेगी, उस समय सारा संसार आनन्द की ज्योति से जगमगा उठेगा। ओ३म् आनन्द ! आनन्द ही आनन्द हो जाएगा !

(अस्थन्वन्तं) अस्थियोंवाले इस संसार को (अनस्था) अस्थि-रहिता=शरीररहिता प्रकृति देवी (बिभर्ति) धारण करती है (भूम्याः) पृथिवी से यह (असुः) प्राण और रुधिरलक्षित सूक्ष्म शरीर (असृग्) शोभित होते हैं। किन्तु (आत्मा) यह शरीर से पृथक् चेतन जीव (क्वस्वित्) कहाँ से होता है (कः) कौन मनुष्य (विद्वांसं) ईश्वर, प्रकृति और जीव इन तीनों के तत्त्व जाननेवाले विद्वान् से (एतत् प्रष्टुम्) इस विषय को पूछने के लिए (उपगात्) समीप जाता है।

इस मन्त्र में प्रश्न किया गया है कि जायमान को किसने देखा ? क्योंकि अस्थि-रहिता अस्थियुक्ता को धारण करती है। भूमि से प्राण और शरीर होते हैं किन्तु आत्मा कहाँ से होता है ? कौन विद्वान् के निकट इस विषय की जिज्ञासा से जाता है। यह संसार कैसे बना, इस दृश्यरूप में कैसे आया इत्यादि विषय जानने योग्य हैं। ऊपर के मन्त्र में अस्थि-रहिता पद से अभिप्राय अदृश्य जगद्धारक प्रकृति का ग्रहण है। यद्यपि यह शरीर पृथिवीजन्य अन्नादिक से पुष्ट होता है और इसमें शोणित मांस-मज्जा आदि होते हैं किन्तु यह जीवात्मा इस पार्थिव अंश से नहीं होता, अतः प्रश्न होता है "जीवात्मा कहाँ से आया ?" यह नित्य है। शरीर धारण करनेवाले आत्मा का स्वरूप क्या है, शरीर में इसका प्रवेश कैसे होता है, कैसे रहता है ? कठोपनिषद् २।७ में कहा है—

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः॥

अर्थात् बहुतों को आत्मा सुनने को भी नहीं मिलता। कई सुनते हुए भी नहीं जान पाते हैं। इसका उपदेष्टा बड़ा कुशल होता है, जाननेवाला भी महाज्ञानी होता है। ज्ञानी से शिक्षा पाकर इसको प्राप्त करनेवाला तो आश्चर्य-दुर्लभ है।

आत्मा के विषय में कठोपनिषद् में कहा गया है 'आत्मा' जन्म और मृत्यु से रहित है। यह मेधावी है। यह किसी से उत्पन्न नहीं है। इससे साक्षात् अन्य पदार्थ भी नहीं उत्पन्न हुआ है। यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है। शरीर के नष्ट होने पर भी यह नष्ट नहीं होता।

दर्पण की तरह आत्मा में परमात्मा को देखा जाता है। कृष्ण यजुर्वेद की श्वेताश्वतरोपनिषद् के प्रथमाध्याय के १५वें और १६वें वाक्य देखिए—

जैसे तिल को पेरने से तेल और दधि को मथने से मक्खन पाया जाता है अथवा नहर खोदने से पानी और अरणि-काष्ठ के संघर्षण से आग पायी जाती है,

वैसे ही सत्य और तपस्या के द्वारा खोज करने पर आत्मा में ही परमात्मा को पाया जाता है।

इस महत्त्वपूर्ण आत्मा ने ही शरीर को धारण कर रखा है। शरीर पञ्चभूतों से निर्मित है। क्षिति, जल, पावक, गगन और समीर ने इस शरीर का निर्माण किया है, परन्तु यह शरीर आत्मा नहीं। आत्मा इससे भिन्न है। शरीर को निर्मित देखकर हम सोचते हैं कि 'यह किसके लिए बना है?' जब चारपाई या पलग बनाने के लिए पाये, बाहु, पाटी, रस्सी या नेवार एकत्र किये जाते हैं तब चारपाई तैयार हो जाती है, तो यह किसके लिए होती है ? इसी प्रकार यह शरीर का सघात भी किसी के लिए होता है, सघात बिना प्रयोजन के नहीं। जिसके लिए यह शरीर बना उसी को जीवात्मा कहते हैं। यह जीवात्मा सत्+चित् है। जगत् के भोग भोगने और दु खो की अत्यन्त निवृत्ति करके मोक्ष प्राप्त करने के लिए यह मानव-शरीर को धारण करता है। सामवेद की छान्दोग्योपनिषद् मे कहा गया है—"यह आत्मा मेरे हृदय मे विराजमान है। यह सर्षप आदि से भी सूक्ष्म है। जो आत्मा मेरे हृदय मे विराजमान है, वह पृथिवी, अन्तरिक्ष, स्वर्ग और इस लोकनाम के समुदाय से भी बडा है।"

वास्तव मे इस आत्मा का अपना निजरूप कभी बिगडता नहीं, सदा एकरस रहता है, ज्ञानवान् है। विचारक को यह समझना है कि चारपाई पर लेटा हुआ मनुष्य यदि यह कहने लग जाए कि मैं चारपाई हूँ तो बुद्धिमान् उसपर हँसेंगे। ऐसे ही जो मनुष्य यह कहने लगे कि मैं शरीर हूँ तो उसे बुद्धिमान् मूर्ख कहेंगे। चारपाई को धारण करनेवाला मनुष्य अपने को जब चारपाई समझता है तो वह मूर्ख होता है, इसी प्रकार २४ तत्त्वो के साथ मिलकर यह आत्मा इन्ही तत्त्वों में से किसी जडतत्त्व मे आत्मबुद्धि कर लेता है तब दु खी होता है। शरीर के साथ सम्बन्धित आत्मा सुखी भी होता है, दु खी भी, स्वस्थ भी होता है, रोगी भी। परन्तु जब जीवात्मा ध्यानावस्था मे पहुँचकर प्रत्यक्ष देख लेता है कि मैं तो प्रकृति और प्रकृति से बने सारे तत्त्वों तथा पदार्थों से सर्वथा पृथक् हूँ तब वह इस भ्रमजाल से निकल जाता है।

आत्मा की ज्योति महान् है। इस विषय में उपनिषद् मे एक कथा आती है। महर्षि याज्ञवल्क्य के पास जनक बैठे थे। उन्होंने पूछा, "महर्षि ! मेरे मन मे एक शंका है कि हम जो कुछ देखते हैं, वह किसकी ज्योति से देखते हैं ?"

महर्षि ने कहा, "हम सूर्य की ज्योति के कारण देखते हैं।" जनक बोले, "जब
र्य मस्त हो जाता है तब हम किस प्रकाश से देखते हैं ?" महर्षि बोले, "चन्द्रमा
प्रकाश से देखते हैं।"

जनक ने कहा, "जब चन्द्रमा भी न हो, नक्षत्र भी न हों, अमावास्या की बादलों
भरी घोर अँधेरी रात हो, तब ?"

महर्षि ने कहा, "तब हम शब्द की ज्योति से देखते हैं। चारों ओर अँधेरा
। पथिक रास्ता भटक गया है। वह एक जगह खड़ा होकर शब्द सुनने की
शिश करता है तब कहीं से खटपट की आवाज आती है या उसके जोर से पूछने
र कोई उसे उत्तर देता है तो वह शब्द के प्रकाश से मार्ग पर आ जाता है।"

जनक ने पूछा, "जब शब्द भी न हो तब हम किस ज्योति से देखते हैं ?"

महर्षि बोले, "तब हम आत्मा की ज्योति से देखते हैं। आत्मा की ज्योति से
ब काम होते हैं।"

जनक ने कहा, "यह आत्मा क्या है ?"

महर्षि बोले, "योऽयम् विज्ञानमयः प्राणेषु हृदयन्तर्ज्योतिः पुरुषः" अर्थात्
ह जो विशेष ज्ञान से भरपूर है, जो हृदय में जीवन है, अन्तःकरण में ज्योति है
र शरीर में विद्यमान है, वही आत्मा है।

इस प्रकार आत्मा और शरीर एक-दूसरे से सम्बन्धित है। शरीर आत्मा के
ोग का साधन है। हम शरीर को साधन समझ कर नहीं चलते, शरीर को ही
ब-कुछ समझकर चलते हैं। शरीर दुखी तो हम दुखी। शरीर सुखी तो हम
खी। यह ठीक नहीं। मैं मकान बनाता हूँ, मोटर खरीदता हूँ, बाग लगाता हूँ,
सब चीजें मेरे लिए हैं, मैं इनके लिए नहीं।

संक्षेप में कहें तो इस मन्त्र का भाव है 'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव
' आत्मा शरीररूपी रथ को चलानेवाला, इसपर सवारी करनेवाला स्वामी
। शरीर को आत्मा की सवारी नहीं करनी। आत्मा शरीर का भोग करे, शरीर
ात्मा को न भोगने लगे, हम संसार को भोगें, संसार हमें न भोगने लगे—यह
ाव है जो यह मन्त्र हमें बताता है, अतः हमें चाहिए कि हम जीवात्मा और
रीर के भेद को समझें। केवल शरीर की उन्नति और सुख की कामना में न लगे
हें, आत्मा की उन्नति का मार्ग खोजें। याद रखो, जो चारों ओर उन्नति और
िकास दिखाई दे रहा है, वह केवल शरीर को सुखी देखने के लिए है। भौतिक

उन्नति बढ़ती जाती है परन्तु मनुष्य को सुख नहीं ! मनुष्य को सुख और आनन्द आत्मा की उन्नति से ही हो सकता है। इस शरीर को, जो जड़ है, वास्तव में यह आत्मा ही धारण कर सकता है। इसलिए आनन्द प्राप्त करने के लिए 'प्रज्ञान' विशेष ज्ञान की हमें आवश्यकता है। आप पूछेंगे कि प्रज्ञान क्या है? प्रज्ञान का अर्थ है विशेष ज्ञान, आत्मा का ज्ञान, इन्द्रियों का ज्ञान, परन्तु यह आत्मिक ज्ञान तबतक नहीं मिलता जबतक आत्मा शरीर के साथ जुड़ा हुआ है और जबतक आत्मिक ज्ञान न मिले प्रभु-कृपा भी नहीं होती। आप कहेंगे कि जबतक मनुष्य जीवित है तबतक आत्मा और शरीर अलग कैसे हो सकते हैं? मान लीजिए एक व्यक्ति रोगी हो गया। जरा बताइए, बुखार होने पर किसका तापमान बढ़ा, आत्मा का या शरीर का ? वस्तुतः आत्मा रोगी नहीं हुआ, आत्मा का ताप नहीं बढ़ा। यह ताप या रोग शरीर को हुआ। शरीर के घायल होने से वह घायल नहीं होता। शरीर के डूबने से वह डूब नहीं जाता। शरीर के जल जाने से वह जल नहीं जाता। मनुष्य जो यह कहता है कि 'मैं जल गया' वह आत्मा और शरीर के भेद को समझता नहीं। समझना यह है कि आत्मा और शरीर भिन्न हैं तथा आत्मा ने इस जड़ शरीर को धारण कर रखा है। यही तत्त्वज्ञान है।

आत्मा और शरीर

अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः।
ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता न्यन्यं चिक्युर्न नि चिक्युरन्यम् ॥

—ऋग्वेद १।१६४।३८

(अमर्त्यः) अमरणधर्मा यह नित्य आत्मा (मर्त्येन) मरणधर्मा भौतिक देह के साथ (सयोनिः) एक साथ रहनेवाला होता है, एवं भूतात्मा (स्वधया) अन्न से या भोग से (गृभीतः) गृहीत है। इससे गृहीत होकर (अपाङ् एति) अशुभ कर्म करके नीचे जाता है (प्राङ् एति) शुभ कर्म करके ऊपर जाता है (ता) वे शरीर और आत्मा दोनों (शश्वन्ता) सर्वदा विभागपूर्वक विद्यमान रहते हैं। (विषूचीना) लोक में सर्वत्र गमन करनेवाले (वियन्ता) तत् कर्मफल भोग के लिए लोकान्तरों में गमन करते रहते हैं। मननशील मनुष्य भूतात्मा को शरीरादि से (अन्यम्)

भिन्न (निविश्युः) जानते हैं। कई लोग जीवात्मा को शरीरादि से (अन्यम्) व्यतिरिक्त (न निविश्युः) नहीं मानते हैं।

अर्थात् नित्य जीवात्मा अनित्य शरीर के साथ एक स्थान पर रहता है। अन्नमय शरीर प्राप्त कर वह कभी सत्कर्मों द्वारा ऊर्ध्व देश और असत् कर्मों द्वारा अधोदेश में जाता है।

> अनच्छये तुरगातु जीवमेजद् ध्रुवं मध्य आ पस्त्यानाम्।
> जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना सयोनि ॥
>
> —ऋ० १।१६४।३०

परमेश्वर (पस्त्यानाम्) घरो—शरीरों के (मध्ये) बीच में रहनेवाले (ध्रुवम्) अविनाशी (तुरगातु) शीघ्र गतिवाले (जीवम्) जीव को गति देता हुआ तथा (अनत्) प्राणशक्ति सम्पन्न करता हुआ (शये) रहता है (अमर्त्यः) मरण-विनाशरहित (जीवः) जीवात्मा (स्वधाभिः) अपने कर्मों के कारण अथवा अपनी शक्ति के कारण (मर्त्येन) मरणधर्मा शरीर के साथ (सयोनिः) समान स्थानवाला होकर (मृतस्य) विनश्वर जगत् के बीच (आचरति) विचरता है अथवा (मृतस्य अमर्त्य. जीव·) मृत का न मरनेवाला जीवात्मा (स्वधाभिः) अपने पुण्य-पाप कर्मों के कारण (मर्त्येन सयोनिः) मरणधर्मा शरीर के साथ समान धर्मवाला होकर जगत् में (आचरति) बार-बार आता है।

मनुष्य के तीन शरीर हैं स्थूल, सूक्ष्म और कारण। मनुष्य के इस स्थूल शरीर का सबको प्रत्यक्ष हो रहा है। इस शरीर के साथ मनुष्य के अन्दर एक और सत्ता भी है जिसे हम 'चेतना-प्रवाह' या विचारधारा भी कहते हैं। जाग्रत् अवस्था मे इस चेतना-प्रवाह को प्रत्येक क्षण अनुभव किया जा सकता है। भय-शोक, सुख-दुःख, काम-क्रोध, संकल्प-विकल्प, यहाँ तक कि चेतना का निषेध करना भी उसकी सत्ता का परिचायक है। मनुष्य में 'शरीर' और 'चेतना-प्रवाह' दो ऐसी वस्तुएँ हैं जिनसे इन्कार नहीं किया जा सकता। ये दोनों एक-दूसरे पर प्रभाव डालती हैं। शरीर चेतना पर और चेतना शरीर पर बहुत प्रभाव डालते हैं। भय, शोक, क्रोध आदि की दशा में मनुष्य-शरीर मे विचित्र परिवर्तन होने लगते हैं। इन दोनों का स्वरूप अलग-अलग है। इस प्रकार मनुष्य दो भिन्न-भिन्न पदार्थों का योग है—एक शरीर और दूसरा चेतना-प्रवाह का अधिष्ठान, आत्मा।

अनेक व्यक्ति और विद्वान् आत्मा की सत्ता को नहीं मानते, परन्तु जब हम

मनुष्य के अन्दर ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न, सुख, दुःख आदि शक्तियों पर विचार करते हैं तो ये शक्तियाँ क्रियात्मक हैं, इनका कोई कर्ता और आधार होना चाहिए। वह आधार दिमाग या अन्य कोई भौतिक प्राकृतिक वस्तु नहीं हो सकती। ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न आदि और प्रकृति से बनी चीजों में इतना महान् अन्तर है कि उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। विचार प्राकृतिक जगत् से इतर पदार्थों का भी होता है। जैसे परमात्मा का, आदर्श का, संख्या का तथा घोड़े आदि जातियों के सामान्य गुणों का। ऐसी अवस्था में दिमाग को मानसिक शक्तियों का उद्भव स्थान मानना अत्यन्त असंगत है।

आत्मा शरीर से भिन्न है, इन्द्रियों से अलग है, वह सब इन्द्रियों के ज्ञान का ज्ञाता और उनके अनुभवों को समूहीत-रूप में देखनेवाला है। यदि आत्मा इन्द्रियों से अलग और उनसे ऊपर न हो तो इस प्रकार का अनुभव नहीं हो सकता कि मैं पहले जिस चीज का शब्द सुन चुका हूँ उसे अब भी देख रहा हूँ।

प्रत्येक व्यक्ति की एक अलग आत्मा है। संसार में आत्माओं की संख्या अनन्त है। यदि सबकी आत्माएँ अलग-अलग न हो तो प्रत्येक मनुष्य को दूसरे के विचारों और मानसिक अवस्थाओं का ज्ञान होना चाहिए। एक आदमी को सुख या दुःख होने पर उसका अनुभव सबको होना चाहिए परन्तु ऐसा नहीं होता इससे प्रतीत होता है कि सबमें एक ही आत्मा नहीं है।

आत्मा अनेक जन्मों से गुजरती है। प्रत्येक जन्म में इसे पिछले कर्मों के अनुसार शरीर और माँ-बाप मिलते हैं। माँ-बाप को भी अपने पिछले कर्मों के अनुसार पुत्र प्राप्त होते हैं। हमारे कार्यों का कारण हमारी आत्मा है, दूसरों के कार्यों का कारण उनकी आत्माएँ हैं। कार्य-कारण का नियम भौतिक जगत् का एक अटल नियम है कारण उपस्थित रहेगा तो कार्य होकर रहेगा। एक सुन्दर-सा दो मास का बच्चा भयंकर शीत में बाहर छूट गया। उसे सर्दी लगेगी ही। वह यह नहीं देखेगी कि बच्चा छोटा है, दो मास का है, सुन्दर है, कोमल है, स्वयं दोषी नहीं। पत्थर से टक्कर होगी तो चोट लगेगी ही, आग में हाथ पड़ेगा तो झुलसेगा ही, पानी में कपड़ा गिरेगा तो गीला अवश्य होगा—यह निर्दय, निर्मम कार्य-कारण का नियम विश्व का सचालन कर रहा है। आध्यात्मिक जगत् में यही कार्य-कारण का सम्बन्ध 'कर्म का सिद्धान्त' कहलाता है। इसी को साधारण बोलचाल की भाषा में 'कर्मों का लेखा', 'प्रारब्ध', 'भाग्य', 'दैव' आदि भी कहा जाता है। इसलिए

है वेदमन्त्र कहता है कि जीवात्मा अच्छे कर्मों से उन्नत होता है, सुख प्राप्त करता है और बुरे कर्मों से नीचे गिरता है। ऋग्वेद के दशम मण्डल के १४ वें सूक्त के पहले मन्त्र में कहा गया है "सत्कर्म करनेवालों को यम (परमेश्वर) सुख के देश में ले जाते हैं। उनके पास ही सारा मनुष्य समुदाय जाता है।" दूसरा मन्त्र यह है—

यमो नो गातुं प्रथमो विवेद नैषा गव्यूतिरपभर्तवा उ।
यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुरेना जज्ञानाः पथ्या अनु स्वाः ॥

ऋ० १०।१४।२

अर्थात् सबमें मुख्य यम—परमेश्वर हमारे शुभाशुभ को जानते हैं। यम के मार्ग का कोई विनाश नहीं कर सकता। जिस पथ से हमारे पूर्वज गये हैं उसी से अपने-अपने कर्मानुसार सारे जीव जाते हैं।

कर्म तीन प्रकार के होते हैं—संचित, प्रारब्ध तथा क्रियमाण। पिछले जन्म से लेकर अबतक का कर्म संचित कहा जाता है। संचित में जिनका फल मिल रहा होता है वे संचित नहीं रहते। कुछ का मिलने लग रहा है, कुछ का अभी बाकी है। जिनका फल मिल चुका या मिलना शुरू हो रहा है, उन्हें 'प्रारब्ध' कहते हैं। जिन कर्मों का फल अभी मिलना बाकी रह गया है वे 'संचित' की श्रेणी में आते हैं। संचित और प्रारब्ध में इतना ही भेद है कि संचित कर्मों का जब फल मिल जाए या मिलना प्रारम्भ हो जाए तब संचित कर्म ही फल के प्रारम्भ होने के कारण 'प्रारब्ध' हो जाते हैं। इन दोनों का भूत के कर्मों के साथ सम्बन्ध है। वर्तमान में जो कर्म हम कर रहे हैं वे 'क्रियमाण' कहाते हैं। क्रियमाण कर्म झट से संचित की श्रेणी में चले जाते हैं। इस जन्म से उठकर यदि हम पिछले जन्म में चले जाएँ तो जो इस जन्म के संचित कर्म हैं वे उस जन्म के क्रियमाण कर्म कहलाएँगे और अगर हम इस जन्म से अगले जन्म में चले जाएँ तो इस जन्म के क्रियमाण कर्म अगले जन्म के संचित कर्म होंगे। क्रियमाण कर्म दो प्रकार के होते हैं (१) वैयक्तिक और (२) सामाजिक। व्यक्तिगत कर्मों का सम्बन्ध केवल व्यक्ति से होता है, सामाजिक कर्मों का सम्बन्ध दूसरों से होता है। हम जो सामाजिक कर्म करते हैं—किसी को मार दिया, किसी को लूट लिया, किसी की स्त्री उड़ा ली—ये हमारे हाथ की बातें हैं या ये टल ही नहीं सकतीं—यह विचारणीय है। आपने दीवार पर ईंट फेंकी तो वह अवश्य टकराएगी। मनुष्य पर फेंकी तो

बढ़ बच सकता है। वैदमत यह मानता है कि काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि मानसिक विकारों पर मनुष्य विजय प्राप्त कर सकता है। यदि वह विजय प्राप्त कर लेगा तो कर्म का बन्धन, उसका बन्ध ढीले करके फिर जन्म-मृत्यु और इनपर विजय प्राप्त करने पर मनुष्य उन्नति के सोपान पर चढ़ जाएगा। इसीलिए वैदिक संस्कृति के सभी शास्त्र एक स्वर होकर एक ही पुकार से मनुष्य को कह रहे हैं 'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत' उठो, जागो, ज्ञानी पुरुषों के चरणों में जाकर आत्मतत्त्व को पहचानो—क्योंकि जिस चक्कर में—भंवर में हम पड़े हैं उससे मनुष्य अपने कर्मों के बल पर ही बाहर आ सकता है। संसार में मन के साथ कर्म करो। ऐसे कर्म करो कि तुम उनमें फँसो नहीं—आगे बढ़ो—उन्नत होओ। आत्मतत्त्व की ओर मुड़ने से ही व्यक्ति, मनुष्य, परिवार, समाज, देश तथा विश्व का कल्याण होगा।

जीवात्मा अणु या सूक्ष्म है।

बालादेकमणीयस्कमुतैकं नेव दृश्यते।
ततः परिष्वजीयसी देवता सा मम प्रिया॥

अ० १०।८।२५

(एकम्) एक जीवात्मा (बालात् अणीयस्कम्) बाल से भी अति सूक्ष्म है। (उत) और (एकम्) एक प्रकृति मानो (न इव दृश्यते) दीखता ही नहीं है। (ततः) उनसे भी (परिष्वजीयसी देवता) सूक्ष्म और व्यापक जो देवता है (सा) वह (मम प्रिया) मुझे प्रिय है।

इस संसार में तीन तत्त्व अनादि हैं, तीनों सूक्ष्म हैं। इनमें से जीवात्मा भी सूक्ष्म है और परमेश्वर सूक्ष्मातिसूक्ष्म है। सूक्ष्म का भाव यह है कि तीनों ही आँखों से दिखाई नहीं देते। प्रभु के विषय में कहा गया है—

सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति॥

—श्वेता० ४।१४

प्रभो ! संसार में आप व्यापक हैं। अनेक-रूप संसार के स्रष्टा हैं। सारे

ह्माण्ड को घेर हुए हैं। आपको जानकर ही हम सच्ची शान्ति को प्राप्त कर सकते हैं।

एक अन्य मन्त्र में कहा गया है—

अणोरणीयान् महतो महीयान्—प्रभु आप सूक्ष्म-से-सूक्ष्म और महान्-से-महान् हैं।

> गुणान्वयो यः फलकर्मकर्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता।
> स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा प्राणाधिपः सञ्चरति स्वकर्मभिः॥
>
> —श्वेता० ५।७

ऋषि कहता है "गुण प्रकृति के हैं परन्तु जीव उन गुणों का सम्बन्ध अपने साथ जोड़ लेता है, जीव फल के लिए कर्म करता है और जैसे कर्म करता है वैसे फल भोगता है; जीव सब तरह के रूप—देह धारण कर लेता है, सत्त्व, रज, तम—इन तीनों गुणों वाला और उत्तम—मध्यम—अधम इन तीन मार्गों में जाने-वाला यह जीव है। यह जीव प्राणों का स्वामी होकर अपने कर्मों के अनुसार विचरण करता फिरता है। जीवात्मा के लिए इस सम्बन्ध में आगे कहा है—

> अंगुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः संकल्पाहंकारसमन्वितो यः।
> बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्टः॥
>
> —श्वेता० ५।८

जैसे परमात्मा को उपनिषदों में अंगुष्ठमात्र कहा है, वैसे जीवात्मा को हृदय [illegible]

[illegible] उस 'अपर' को—जीवात्मा को बुद्धि और आत्मा के गुणों से देखा जाता है।

आगे कहा गया है—

> बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
> भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते॥
>
> —श्वेता० ५।९

परन्तु आराग्रमात्र कहने का यह अभिप्राय नहीं कि वह वास्तव में सूई की नोंक के ही [illegible]; अतः ऋषि फिर कहता है कि अगर बाल के अगले हिस्से के

[illegible]

[illegible]

शरीरादि से आत्मा का सम्बन्ध

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः॥

अ० १०।८।२७

(त्वम् स्त्री) तू स्त्री (त्वम् पुमान्) तुम पुरुष (त्वम् कुमारः) तू कुमार (उत वा कुमारी) और तू ही कुमारी (असि) है (त्वम्) तू (जीर्णः) बूढ़ा होकर (दण्डेन वञ्चसि) डण्डा, लाठी लेकर चलता है और (त्वं) तू (विश्वतः मुखः जातः भवसि) सर्वत्र मुखवाला होता है।

इसी भाव को अर्थात् जीवात्मा स्त्री, पुरुष, कुमार, कुमारी, युवक और वृद्ध है, श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी वर्णित किया गया है। वहाँ कहा है—

नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः।
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स रक्ष्यते॥

श्वेता० ५।१०

जीवात्मा न स्त्रीलिंगी है, न पुल्लिंगी, न नपुंसकलिंगी। वे लिंग शरीर के हैं, जिस-जिस शरीर को यह ग्रहण करता है, उस-उसके लिंग के साथ यह युक्त हो जाता है।

ऋ० १।४७।१८ मन्त्र में कहा है कि कर्मों के अनुसार जीवात्मा विभिन्न शरीरों में जाता है और जिस शरीर को धारण करता है वैसे ही स्वभाव और वैसी ही चेष्टावाला बन जाता है। जिस समय इसे मनुष्य शरीर मिलता है तो यह मनुष्य के समान आचरण करने लगता है और जब यह पशु-पक्षियों के शरीर धारण कर लेता है तब उनकी तरह इसका स्वभाव और व्यवहार हो जाता है।

इसका मरना न कोई स्वभाव है, न रूप है, न आकार है, न प्रकार है, न लिंग है, न अवस्था है। यह तो अजर और अमर है, यह निराकार है।

ऋग्वेद के मन्त्र में कहा गया है—

रूपंरूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश॥

ऋ० ६।४७।१८

अर्थात् जीवात्मा बुद्धियों के द्वारा प्रत्यक्ष कथन के लिए रूप-रूप का प्रतिरूप होता है। यह बहुत शरीर धारण करने के हेतु, अनेक रूपोंवाला पाया जाता है। यह सब-कुछ इसके शरीर का रूप है। अथवा यह सब-कुछ जीवात्मा के स्वरूप-बोधन के लिए है। निश्चय से दस इन्द्रियाँ तथा सैकड़ों शक्तियाँ इस जीवात्मा से युक्त होकर कार्यों का साधन करती हैं।

उतैषां पितोत वा पुत्र एषामुतैषां ज्येष्ठ उत वा कनिष्ठः।
एको ह देवो मनसि प्रविष्टः प्रथमो जातः स उ गर्भे अन्तः॥

अ० १०।८।२८

यह आत्मा इनका पिता, अथवा इनका पुत्र और इनका ज्येष्ठ या कनिष्ठ भाई भी होता है। यह एक देव, मन में प्रविष्ट होकर पहले जन्मा हुआ हो, वही फिर गर्भ के अन्दर भी आता है।

जीवात्मा का शरीर बदलता रहता है। वह एक ही आत्मा सम्बन्ध-विशेष से पिता, पुत्र या छोटा भाई बनता रहता है।

इस प्रकार यह देहधारी जीवात्मा अपने शुभ-अशुभ गुणों से स्थूल तथा सूक्ष्म अनेक रूपों को चुन लेता है। यह सम्बन्ध आत्मा में अपनी क्रिया के, अर्थात् कर्मों के जो गुण हैं, और क्रिया के अतिरिक्त जो अपने दूसरे गुण हैं उससे शरीर के साथ संयोग का हेतु बन जाता है। यह स्वयं अशरीरी है पर देहादि के सम्बन्ध से शरीरी-सा व्यवहार करता है।

जीवात्मा इन्द्रियाधिष्ठाता है

'इन्द्र' शब्द का अर्थ है परमात्मा, इन्द्र शब्द का अर्थ है 'जीवात्मा', इन्द्र शब्द का अर्थ है राजा आदि। संस्कृत में जिस प्रकार राष्ट्र से राष्ट्रिय बनता है, उसी

प्रकार इन्द्र से इन्द्रिय बनता है। राष्ट्र से सम्बन्धित राष्ट्रिय, इसी प्रकार इन्द्र
जीवात्मा से सम्बन्धित इन्द्रिय अर्थात् इन्द्रियाँ हैं। इन्द्र बनने का मतलब
इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनना। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा मन।
ग्यारह इन्द्रियों का अधिष्ठाता इन्द्र है। यही इन्द्र और इन्द्रियों का सम्बन्ध है
हम इन्द्र बनें और दसों इन्द्रियाँ हमारी दासी हों। हमारी इन्द्रियाँ हमारी आ
के अनुसार चलें अर्थात् कान आत्मा की आवाज सुनकर अपना मार्ग बनाये, आँ
आत्मा (इन्द्र) की आवाज के अनुसार चलें, जीभ और त्वचा ये भी आत्मा
आवाज के अनुसार चलें, वाणी आत्मा (इन्द्र) का अनुसरण करे, इसी प्रका
हमारी कर्मेन्द्रियाँ भी इन्द्र से सचालित हों। यही इन्द्र का अधिष्ठातृत्व है। वे
में इन्द्र के अधिष्ठाता होने का उल्लेख निम्न मन्त्र में किया गया है—

यस्य प्रयाणमन्वन्यऽइद्ययुर्देवा देवस्य महिमानमोजसा।
यः पार्थिवानि विममे सऽएतशो रजाᳪसि देवः सविता महित्वना॥

यजु० ११।

(अन्ये देवाः) दूसरे देव अर्थात् इन्द्रियाँ, जिस देव जीवात्मा की गति के अनुकू
हीं, गति करते हैं अर्थात् जब जीवात्मा शरीर त्याग देता है, तो इन्द्रियाँ भी वह
से चली जाती हैं और जिस देव के बल से उसकी महिमा के अनुकूल वह भी
महिमावाले बन जाते हैं अर्थात् जीवात्मा यदि उत्तम योनि को प्राप्त कर ले, तो
इन्द्रियाँ भी प्राय उत्तम होती हैं। जो जीवात्मा पार्थिव लोकों=जन्मों का विविध
रीतियों से मापन करता है, वह ऐश्वर्य सम्पन्न उन्नति चाहनेवाला जीवात्मा,
अपनी उत्कृष्टता के कारण शीघ्रगामी अथवा इन्द्रियों का प्रेरक है अथवा वह
इन्द्रियप्रेरक देव=जीवात्मा अपनी बड़ाई के कारण सब इन्द्रियों को प्राप्त करता
है।

कठोपनिषद् (३।३-४) में इस बात को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीर रथमेव तु।
बुद्धि तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥

शरीर रथ है, आत्मा रथ का स्वामी रथी है, बुद्धि सारथि है और मन
लगाम है, ऐसा समझो। श्रोत्रादि इन्द्रियाँ घोड़े हैं, शब्द, स्पर्शादि विषय इनके

गों। इन्द्रियाँ विषयों का ग्रहण तभी कर सकती हैं जब मन उनके साथ हो। घोड़े उसी ओर दौड़ते हैं जिस ओर लगाम का सहारा या इशारा होता है परन्तु इस लगाम को ठीक रखना सारथि के बल, बुद्धि और मार्ग के ज्ञान पर निर्भर करता है। गाड़ी में घोड़े जुते हुए हैं। गाड़ी का स्वामी शराब पीकर मस्त है, उन्मत्त है, उसे उन्मत्त देख सारथि भी प्रमत्त हो जाता है, उसके प्रमाद से घोड़ों की लगामें शिथिल हो गई हैं। सामने घास है या विषय हैं, घास से खिंचे घोड़े उधर दौड़ते हैं। मार्ग के गड्ढे आदि उन्हें दिखाई नहीं देते तो हमारा रथ उलट जाएगा। वह टूट-फूट जाएगा। रथ का स्वामी घायल हो जाएगा, घोड़े घायल हो जाएँगे। यही इन्द्रियरूपी घोड़ों की भी दशा है। यदि आत्मदेव के उन्माद के कारण बुद्धि देव भी बुद्धू बन जाता है और मनरूपी लगाम को ढीला छोड़ देता है फिर इन्द्रियरूपी घोड़ों की बन आती है। सामने आये विषयों की ओर वे दौड़ते हैं। परिणाम होता है कि आत्मा की हानि होती है, बुद्धि मार्ग-भ्रष्ट हो जाती है, शरीररूपी रथ भंग हो जाता है और इन्द्रियरूपी घोड़े भी चोट खा जाते हैं। शरीररूपी रथ का स्वामी आत्मा है। यह रथ का मालिक है। कठोपनिषद् (३।५) में इसे बड़े सुन्दर रूप में कहा है—

यस्त्वविज्ञानवान्भवत्ययुक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः॥

जो विज्ञान-रहित है, उसका मन सदा आत्मा से अयुक्त रहेगा। उसकी इन्द्रियाँ भी वश में नहीं रहतीं, जैसे दुष्ट घोड़े सारथि के वश में नहीं रहते।

यस्त्वविज्ञानवान्भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः।
न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति॥ —कठ० ३।७

जो विज्ञान-रहित है, जिसका मन आत्मा से युक्त नहीं अर्थात् मन विष
पास नही, जो सदा अपवित्र विचार ही अपने मन मे लाता रहता है, वह उस उच्
पद को जिसमे आत्मा मालिक बनकर रथ को चलाए, नहीं प्राप्त कर सकता
घोड़े ही उसके रथ के मालिक बन जाते हैं और उसे ससार मे भटकाते रहते
वह जन्म-मरण के चक्कर मे उलझा फिरता है। परन्तु—

यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः॥

—कठ० ३।

जो विज्ञानवाला है अर्थात् जिसमे विवेक है, जिसका मन एकाग्र और सम
हित होता है या जिसका आत्मा मन के साथ नही परन्तु मन आत्मा के साथ स
है, जो पवित्र विचारो को सोचता है, वह उस उच्च पद को प्राप्त कर लेता
उसकी इन्द्रियाँ वश मे रहती हैं जैसे अच्छे घोडे सारथि के वश में रहते हैं।

यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते॥

—कठ० ३।८

जो बुद्धिमान् और सावधान मनवाला होता है, तथा सदा पवित्र विचारों
वाला होता है, ऐसा व्यक्ति उस पद को प्राप्त कर लेता है जहाँ से लौटकर फि
जन्म ग्रहण नही करना पडता।

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्॥

— कठ०

जिसका विज्ञान सारथि है, कोचवान है, जो मनरूपी लगाम को अपने
मे रखता है, वह इस ससाररूपी मार्ग का पार पा लेता है, वह परमात्मा
पहुँच जाता है।

आत्मा ग्यारह इन्द्रियो से महान् है—

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥

—कठ०

... उसके विषय—

गन्ध, स्पर्श, शब्द—दूर हैं। इन्द्रियाँ दीखती हैं, ये दीखते नहीं, इन्द्रियाँ स्थूल हैं ये सूक्ष्म हैं। विषयों की अपेक्षा मन परे है। मन की अपेक्षा बुद्धि परे है। मन का काम 'सकल्प-विकल्प' करना है, बुद्धि का काम निश्चय करना है। बुद्धि की अपेक्षा आत्मा महान् परे है, अत्यन्त दूर है।

अतः आत्मा सबसे शक्तिशाली है। यह सबसे श्रेष्ठ है। उपनिषद् कहती है 'सा काष्ठा सा परा गतिः' यही चरमसीमा है, यही परमगति है, परन्तु यह केवल—

> एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।
> दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥

—कठ० ३।१२

परमात्मा इन सब भूतों में—अन्तर्जगत् तथा बाह्य जगत् में—छिपा हुआ प्रकट नहीं होता। सूक्ष्मदर्शीलोग 'अग्रबुद्धि' से—आगे-आगे चलनेवाली बुद्धि से—उसका दर्शन करते हैं। पं० श्री सत्यव्रतजी सिद्धान्तालकार ने इसकी बड़ी सुन्दर और सरल व्याख्या करते हुए लिखा है "कठोपनिषद् में यमाचार्य ने नचिकेता को बतलाया कि पिण्ड में इन्द्रियों की डोर पकड़कर आगे-आगे चले, अग्रबुद्धि से काम ले और प्रकृति में पञ्चमहाभूतों की डोर पकड़ कर आगे-आगे चले—अग्रबुद्धि से काम ले। जो इस प्रकार चलेगा उसे इन्द्रियों के पीछे छिपा हुआ आत्मा और प्रकृति के पीछे छिपा हुआ परमात्मा नजर आ जाएगा। जीवन-यात्रा जिसमें आत्मा रथी है, शरीर रथ है, इन्द्रियाँ घोड़े हैं, पिण्ड में आत्मा तक और ब्रह्माण्ड में परमात्मा तक पहुँचने के लिए है।"

इस आत्मा तथा परमात्मा को प्राप्त करने के लिए—उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत—उठो, जागो और महापुरुषों के पास जाकर इसे जानो। यह मार्ग सरल नहीं—

> क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति।

—कठ० ३।१४

इन्द्रियाँ बहिर्मुखी हैं, इसी से वे केवल बाहर की वस्तुओं को देखती हैं, अन्तरात्मा को नहीं देखतीं कोई विवेकशील पुरुष ही अमृतत्व की शुभ इच्छा से इन इन्द्रियों को अन्तर्मुखी करके अन्तरात्मा को देख पाता है। अज्ञानी लोग बाह्य विषयों की ओर ही दौड़ते हैं, इसी से सर्वत्र व्याप्त मृत्यु के फन्दे में फंस जाते हैं,

परन्तु ज्ञानी पुरुष उस अमृतत्त्व को जानकर इन अनित्य पदार्थों से नित्य वस्तु की प्रार्थना नहीं करते। कठोपनिषद् में इन्द्रियों की इस विशेषता का उल्लेख करते हुए दोनों को अलग दिखाया गया है। ऋषि कहता है—

> पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
> कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥
>
> —कठ० ४।१

स्वयंभू अर्थात् परमात्मा ने इन्द्रियों को बाहर की ओर जानेवाला बनाया है, इसीलिए मनुष्य बाहर की ओर देखता है, अन्दर, आत्मा की ओर नहीं। अमृत को चाहनेवाला कोई धीर पुरुष ही विषयों से आँखें मूँद लेता है और मुड़कर आत्मा को देखता है।

आत्मा इन्द्रियों से भिन्न है। आत्मा उन इन्द्रियों का अधिष्ठाता है। यह वह ज्ञान है जो परमेश्वर को प्राप्त करने की इच्छावाले को सीखना चाहिए—जानना चाहिए।

> इन्द्रियाणां पृथग्भावमुदयास्तमयौ च यत्।
> पृथगुत्पद्यमानानां मत्वा धीरो न शोचति॥
>
> —कठ० ६।[illegible]

आत्मा उत्पन्न नहीं होता, इन्द्रियाँ आत्मा से पृथक् उत्पन्न हुई हैं। इन्द्रि[illegible] का उदय होता है, अस्त होता है, आत्मा का नहीं। इस प्रकार जो इन्द्रियों [illegible] आत्मा नहीं समझता, इन्द्रियों को आत्मा से पृथक् समझता है, वह धीर पु[illegible] शोकाकुल नहीं होता।

आत्मा को कैसे जाना जा सकता है?

बृहदारण्यक (४।५) में याज्ञवल्क्य तथा मैत्रेयी का संवाद है। [illegible] कि याज्ञवल्क्य की स्त्री मैत्रेयी थी। दोनों ने बड़ी सफलता से गृहस्थ धर्म[illegible] पालन किया और एक दिन याज्ञवल्क्य वृद्ध हो चले तब उन्होंने मैत्रेयी से [illegible] देवि! अब मैं घरबार छोड़कर बाहर जाना चाहता हूँ। अब मैं प्रभु की [illegible] और उसका भजन करना चाहता हूँ। मेरे पास जो कुछ धन, दौलत, धर्म[illegible]

और शासन है सब तुम्हें देना चाहता हूँ, तुम सुखपूर्वक अपना जीवन व्यतीत करो। यह सुनकर मैत्रेयी बोली "यन्नु मे इयं सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात् कथं तेनाहममृता स्याम्" अगर सारी पृथ्वी की धन-दौलत समेटकर आप मुझे दे डालें तो क्या मुझे वह अमृत—वह शान्ति—मिल जाएगी जिसके लिए आप जा रहे हैं ? याज्ञवल्क्य ने कहा "नेति नेति यथोपकरणवतां जीवनं तथैव ते जीवनं स्यात् अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन" अर्थात्—

साधन-सम्पन्न व्यक्तियों का जैसा जीवन होगा, वैसा ही तेरा भी जीवन हो जाएगा (अर्थात् तेरे यहाँ मोटर, फ्रिज, ट्रांजिस्टर, मेज, कुर्सी, खाने-पीने के समान हो जाएँगे) परन्तु उसमें अमृत की प्राप्ति सम्भव नहीं। यह सुनकर मैत्रेयी बोली "येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम्" जिस धन-दौलत से मुझे अमृत प्राप्त नहीं होगा, आत्मिक शान्ति नहीं मिलेगी, उसे लेकर मैं क्या करूँगी ? यह कहकर मैत्रेयी ने सम्पूर्ण धन-दौलत का त्याग कर दिया।

पुराणों में इसी बात को हृदय में बैठाने के लिए ययाति की कथा दी गई है। ययाति नाम के एक राजा थे, जो विषयों के आनन्द में मग्न रहा करते थे। अन्त में मृत्यु का समय आ गया। मृत्यु को आया हुआ देखकर ययाति के दुःख का ठिकाना न रहा और वे रोने-बिलखने लगे। उनकी इस व्यथा को देखकर उनके पुत्र उनके पास गये और उन्होंने कारण जाना। एक पुत्र ने विषयों के भोग के लिए अपनी सम्पूर्ण आयु दे दी। उसकी आयु पाकर वे विषयों में फिर मग्न हो गये। समय बीता, फिर मृत्यु आई। दूसरे पुत्रों ने भी पहले की तरह किया। वे मौज से भोग-विलास में रत रहे। उनके पोतों ने भी अपना जीवन दे दिया। फिर वही विषयों के सुख का दौर चला। वह समय भी बीत गया। तब एक दिन जाकर विषयों की निस्सारता का उनको बोध हुआ। उन्हें यह पता लगा कि विषयों से मनुष्य की तृप्ति नहीं होती। मनुष्य विषयों को नहीं भोगता, विषय ही मनुष्य को भोगने लगते हैं—

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्तास्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः।

यह कथा ययाति की ही नहीं है। संसार के सबसे बड़े बन्धन विषय हैं। विषयों में बन्धन की वह ताकत है जो मोटे-से-मोटे सन के रस्से में नहीं, मजबूत लोहे की जंजीरों में नहीं। विषय शब्द का अर्थ "विशेषेण सिन्वन्ति बध्नन्तीति विषयाः" जो अच्छी प्रकार से बाँधे उनको विषय कहते हैं। संस्कृत के निम्नलिखित श्लोकों

में विषयों की व्यापकता का उल्लेख किया गया है—

> भिक्षाशनं तदपि नीरसमेकवारं
> शय्या च भूः परिजनो निजदेहमात्रम्।
> वस्त्रं च जीर्णं शतखण्डमयी च कन्था
> हा हा तथापि विषया न परित्यजन्ति॥

भीख का नीरस भोजन है, वह भी एक बार खाने को मिलता है, पृथिवी ही शय्या है, शरीर ही परिवार है और सैकड़ों टुकड़ों में फटा हुआ कपड़ा है तो भी मनुष्य को यह विषय छोड़ते नहीं हैं।

एक दूसरे श्लोक में कहा गया है—

> कृशः काणः खञ्जः श्रवणरहितः पुच्छविकलो
> व्रणी पूयक्लिन्नः कृमिकुलशतैरावृततनुः।
> क्षुधाक्षामो जीर्णः पिठरजकपालार्पितगलः
> शुनीमन्वेति श्वा हतमपि च हन्त्येव मदनः॥

एक कुत्ते का वर्णन करते हुए कवि ने लिखा है—

कमजोर, काना, लंगड़ा, कानों से रहित, पूँछ से रहित, घावों से भरे हुए और सैकड़ों कीड़े जिसमें रेंग रहे हैं ऐसे घावोंवाले, भूख से व्याकुल, जीर्ण और बरतन के मटके हुए गले में घूम फिराती हुई है ऐसा कुत्ता कुतिया के पीछे लगा रहता है। कवि कहता है कि अरे कामदेव! तुम मरे हुए को मारनेवाले हो।

विषय बाहर से रमणीय हैं परन्तु विषय आनन्द नहीं देते, शान्ति नहीं देते।

छान्दोग्योपनिषद् (७।१) में नारद का उपाख्यान है। नारद ऋषि सनत्कुमार के पास जाते हैं और कहते हैं "भगवन्, मैंने सब विज्ञान एवं विद्याएँ पढ़ लीं, परन्तु मेरी तृप्ति नहीं हुई। ब्रह्म का मैंने नाम ही सुना है, उसे जाना नहीं।" नारद कहते हैं, 'सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मवित्'—भगवन्! मैं 'मन्त्रवित्' हूँ 'आत्मवित्' नहीं हुआ हूँ।

संसार सुख देता है, परन्तु जिस प्रकार सुख को पाने की तलाश में हम फिरते हैं वह हमें नहीं मिलता।

कठोपनिषद् में नचिकेता का उपाख्यान है। नचिकेता को भी सब कुछ वैभव देने का लोभ दिया गया। नचिकेता ने सब आत्मतत्त्व के विषय में ज्ञान के द्वार

- - -

किया तो यमराज ने कहा "देवताओं को भी पहले इस विषय में सन्देह हुआ था। इस आत्मतत्त्व का समझना कोई आसान बात नहीं, यह बड़ा ही सूक्ष्म विषय है, अतएव हे नचिकेता! तुम दूसरा कोई वर मांगो, यह तो बड़ा कठिन प्रश्न है, इसके लिए मुझे विवश मत करो।" नचिकेता विषय की कठिनता का नाम सुनकर घबराया नहीं परन्तु और भी दृढ़ता से बोला, "महाराज! यदि यह प्रश्न कठिन न होता तो मैं आपसे पूछता ही क्यों? मैं तभी तो आपके पास आया हूं जब मुझे इस विषय का समझानेवाला आपके समान दूसरा कोई वक्ता खोजने पर भी नहीं मिल सका। आप किसी दूसरे वर के लिए कहते हैं परन्तु मैं समझता हूँ कि इसके समान कोई दूसरा वर नहीं है; क्योंकि यही कल्याण की प्राप्ति का हेतु है, अत: मुझे यही समझाइए।

साधक की परीक्षा लेने के लिए यमराज ने पहले भय दिखाया। जब वह भय से पराजित नहीं हुआ, डरा नहीं, तब यमराज ने 'लोभ' का सहारा लिया और कहा—

> शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व
> बहून् पशून् हस्तिहिरण्यमश्वान्।
> भूमेर्महदायतनं वृणीष्व
> स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि॥

—कठो० १।२३

हे नचिकेता! तू सौ वर्ष तक जीनेवाले पुत्र और पौत्र माँग ले। हाथी, ऊँट, घोड़े आदि बहुत-से पशु माँग ले। भूमि ले ले और अपने लिए जितनी इच्छा हो उतना जीवन ले ले।

आगे यम कहते हैं—

> एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं
> वृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च।
> महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि
> कामानां त्वा कामभाजं करोमि॥

—कठ० १।२४

इसी के समान और कोई वर चाहो तो प्रचुर धन और दीर्घजीवन के साथ उसे माँग लो, अधिक क्या इस विशाल भूमि के तुम सम्राट् बन जाओ। मैं तुम्हें

अपनी सारी कामनाओं को इच्छानुसार भोगनेवाला बनाये देता हूँ। इसके अतिरिक्त—

> ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके
> सर्वान्कामांश्छन्दतः प्रार्थयस्व।
> इमा रामाः सरथाः सतूर्या
> न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः॥
> आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व
> नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः॥
>
> कठो० १।

जो-जो कामनाएँ मनुष्यलोक में दुर्लभ हैं, तू इच्छानुसार उन कामनाओं
माँग ले। तू रथ और नाना प्रकार के बाजे माँग ले। मनुष्य के लिए अलभ्य स्त्रि
माँग ले। मेरे द्वारा प्रदत्त इन स्त्रियों के साथ तू विचर, इनसे तुम अपनी
कराओ परन्तु हे नचिकेता ! मुझसे मृत्युविषयक यह प्रश्न मत पूछो। आत्म
क्या है, इस विषय में मत पूछो।

नचिकेता ने कहा—

> योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो
> नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते।
>
> —कठ०

यह आत्मतत्व विषयक वर गूढ होने पर भी नचिकेता इसके सिवा
अनित्य वर नहीं चाहता। नचिकेता इन प्रलोभनों में तनिक भी चलाय
हुआ। उसने कहा—

> श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत् सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
> अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते।
> न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा
> जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं वरस्तु मे वरणीयः स एव
>
> —कठ०

"मनुष्य के सुखभोग तो क्षणभंगुर हैं, ये आज हैं तो कल नहीं। है
संसार के सभी भोग इन्द्रियों के तेज को नष्ट करनेवाले हैं। विषय-भ
... अतः अपने हाथी-घोड़े और नृत्य
लम्बा-से-ल

ही पास रखिए।

हे यमाचार्य ! मनुष्य धन से कभी तृप्त नहीं होता, यदि हम तुम्हारा या आत्मतत्त्व का दर्शन कर लेंगे तो धन भी प्राप्त कर लेंगे। जबतक तुम्हारी इच्छा होगी हम जीते रहेंगे। मुझे इन वस्तुओं की इच्छा नहीं। मेरे वरने योग्य वर तो वही है।

इस प्रकार ययाति विषयों के भोग से अन्त तक सुख-शान्ति नहीं प्राप्त कर सका। नारद ने सभी विद्याएँ पढ ली तब भी उसे शान्ति नहीं मिली। क्योंकि वे 'मन्त्रवित्' हो गये 'आत्मवित्' नहीं। मैत्रेयी को ससार का बहुत धन मिलने पर भी शान्ति की कामना के कारण उसने उसे लात मार दी और नचिकेता ने भी उस आत्मतत्त्व को जानकर शान्ति की प्राप्ति को मुख्यता दी। आइए, विचार करें यह आत्मतत्त्व कैसे जाना जा सकता है ? इसे कैसे प्राप्त कर सकते हैं ?

सभी प्राणी सुख चाहते हैं। मनुष्य सुख के साथ आनन्द और शान्ति भी चाहता है। इस ससार मे ईश्वर, जीव और प्रकृति ये तीन वस्तुएँ अनादि हैं, इनका कभी अन्त नहीं होता। इनमे से प्रकृति जड़ है। उसकी सत्ता तो है पर उसमे चेतना और आनन्द नहीं। जीव सत् और चित् है। उसकी सत्ता भी है और वह चेतन भी है परन्तु उसमे भी आनन्द नहीं। वह सदा आनन्द की तलाश मे रहता है और आनन्द की प्राप्ति के लिए वह या तो प्रकृति की ओर जा सकता है या ईश्वर की ओर। प्रकृति के पास न तो सुख है और न आनन्द। वह सत् है, वह तो जड है। जब वह प्रकृति की ओर जाता है और उसे वह पकड़कर ही क्यों न रखे, समय आता है, वह हाथ से निकल जाती है। इसलिए जीवात्मा आनन्द की प्राप्ति की तलाश मे भटकता है, पर, जहाँ आनन्द नहीं वहाँ जाने पर उसे आनन्द मिलता नहीं, उसे निराशा और दुख होता है। एक दृष्टान्त लिए—

एक तालाब के किनारे एक व्यक्ति बैठा था। उसे झील में सोने का हार दीख रहा था। वह उस सोने के हार को प्राप्त करने के लिए बार-बार डुबकी लगाता था, परन्तु जहाँ अन्दर गया वहाँ हार गायब हो जाता था। इतने मे एक सयाना आया और पूछा—"क्या बार-बार मेहनत कर रहे हो ?" उसने कहा, "देखो, तालाब में हार दीख रहा है, मैं उसे लेने के लिए उसमे डुबकी लगा रहा हूँ। अन्दर डूबता हूँ तो गायब हो जाता है।" सयाने ने कहा "मूर्ख ! ऊपर देख,

जो जान लेता है, उसकी सम्पूर्ण इच्छाएँ पूरी हो जाती हैं।

स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मथनाभ्यासादेवं पश्येन्निगूढवत्॥

श्वेता० १।१४

अपने देह को नीचे की और प्रणव को ऊपर की 'अरणि' बनाकर 'ध्यान' की रगड़ के अभ्यास से, बारबार करने से छिपी हुई आग की भाँति परमात्मा तथा जीव की ज्योति के दर्शन करो!

ओं तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा॥

गीता १७।२३

ओ३म्, तत्, सत् ऐसे यह तीन प्रकार का सच्चिदानन्दघन ब्रह्म का नाम कहा है। उसी ने सृष्टि के आदि में ब्रह्मज्ञानी, ऋषि, वेद और यज्ञ आदि उत्पन्न किये।

इसलिए यदि तुम आनन्द और शान्ति प्राप्त करना चाहते हो तो प्रभु के और सब नामों को छोड़कर 'ओ३म्' का स्मरण करो। इस 'ओ३म्' का जाप और इसके अर्थ की भावना तुम्हें मुक्ति दिलाएगी, तुम्हें आनन्दरूप ब्रह्मलोक में ले जाएगी।

हे मनुष्य! तू सब प्रकार के संकटों से, कष्टों और दुःखों से छुटकारा चाहता है तो तू पूर्णरूप से अपने को प्रभु-समर्पित कर दे। अरे, मानव! तुम मूल में आत्मा हो, शरीर तुम्हारा घर है, आत्मा की नगरी के तुम निवासी हो, संसार की नगरी की सैर करने निकले हो। जाओ, इस दुनिया की सैर करो। उसी प्रभु ने इस नगरी का निर्माण किया है, जिसने तुम्हें यहाँ भेजा है। परन्तु, इसकी सैर करते हुए यह न भूल जाओ कि तुम कहाँ से आये हो, कहाँ के रहनेवाले हो और सबसे बड़ी बात है कि किसने तुम्हें भेजा है? जिसने तुम्हें भेजा है तुम्हारा और संसार का निर्माण किया है उसी की शरण में जाओ; तुम्हें निडरता, अभय, शान्ति और आनन्द मिलेगा।

एक दृष्टान्त सुनिए। एक भेड़ जंगल में भटक गई। उसे खाने के लिए कुत्ता, चीता सब आ पहुँचे। उसने सोचा मरना ही है तो शेर के हाथों क्यों न मरूँ? यह शेर की गुफा के सामने बैठ गई। चीता उसे खाने आया। भेड़ ने कहा बेशक खा जाओ। परन्तु देख लो कहाँ बैठी हूँ। शेर से झगड़ा लेनी हो तो बेशक खा

पेड पर लटक रहा है, उसी का तालाब मे प्रतिबिम्ब है। तू इस तालाब मे डुबकी लगाने के बजाय पेड पर चढ, हार हाथ आ जाएगा।"

ससार के तालाब में जो आनन्द का हार दीख रहा है, उसे पाने के लिए हमने अनेक जन्मो मे हजारो बार डुबकियाँ लगाईं। कितने ही जन्म लिये, परन्तु हार हाथ नही आया। ऊपर देखो, भगवान् की तरफ, जिसकी छाया सर्वत्र दिखाई दे रही, सब पदार्थों मे आनन्द के रूप मे झलक रही है। वह मिलेगा तभी आनन्दरूपी हार हमे मिल सकता है।

उस हार को पाने के लिए भगवान् का बनना होगा। उसकी शरण मे आना होगा। नचिकेता के प्रश्न के उत्तर मे कठोपनिषद् २।१५ मे यमराज ने कहा है—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति
तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥

समस्त वेद जिसका प्रतिपादन करते हैं, समस्त तप जिसे बतलाते हैं तथा जिसके लिए किये जाते हैं, जिसको प्राप्त करने के लिए साधक-गण ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान किया करते हैं, वह पद मैं संक्षेप मे बतलाता हूँ, वह है 'ओ३म्'।

वह परात्पर परमात्मा जो सब नामो से परे होने पर भी सब नामो मे भरा हुआ है, जिसके सैकडों नाम हैं, उसके सभी नामो मे 'ओ३म्' नाम ही मुख्य और श्रेष्ठ है। इसको हमे प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥

कठ० २।१७

'ओ३म्' नाम का आश्रय ही सबसे श्रेष्ठ सहारा है, इसी का सबसे ऊँचा सहारा है। इसी सहारे को जानकर मनुष्य ब्रह्मलोक में महिमा को प्राप्त करता है।

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥

कठ० २।१६

यह 'ओ३म्' एक अक्षर है, परन्तु यही ब्रह्म है, यही सबसे परे है। इस प्रकार

को जो जान लेता है, उसकी सम्पूर्ण इच्छाएँ पूरी हो जाती हैं।

स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढवत्॥

श्वेता० १।१४

अपने देह को नीचे की ओर प्रणव को ऊपर की 'अरणि' बनाकर 'ध्यान' की रगड़ के अभ्यास से, बारबार करने से छिपी हुई आग की भाँति परमात्मा तथा जीव की ज्योति के दर्शन करो!

ओं तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा॥

गीता १७।२३

ओ३म्, तत्, सत् ऐसे यह तीन प्रकार का सच्चिदानन्दघन ब्रह्म का नाम कहा है। उसी ने सृष्टि के आदि में ब्रह्मज्ञानी, ऋषि, वेद और यज्ञ आदि उत्पन्न किये। इसलिए यदि तुम आनन्द और शान्ति प्राप्त करना चाहते हो तो प्रभु के और सब नामों को छोड़कर 'ओ३म्' का स्मरण करो। इस 'ओ३म्' का जाप और इसके अर्थ की भावना तुम्हे मुक्ति दिलाएगी, तुम्हे आनन्दरूप ब्रह्मलोक मे ले जाएगी।

हे मनुष्य! तू सब प्रकार के सकटों से, कष्टों और दु खों से छुटकारा चाहता है तो तू पूर्णरूप से अपने को प्रभु-समर्पित कर दे। अरे, मानव! तुम मूल मे आत्मा हो, शरीर तुम्हारा घर है, आत्मा की नगरी के तुम निवासी हो, संसार की नगरी की सैर करने निकले हो। जाओ, इस दुनिया की सैर करो। उसी प्रभु ने इस नगरी का निर्माण किया है, जिसने तुम्हें यहाँ भेजा है। परन्तु, इसकी सैर करते हुए यह न भूल जाओ कि तुम कहाँ से आये हो, कहाँ के रहनेवाले हो और सबसे बड़ी बात है कि किसने तुम्हें भेजा है? जिसने तुम्हें भेजा है तुम्हारा और संसार का निर्माण किया है उसी की शरण मे जाओ; तुम्हें निडरता, अभय, शान्ति और आनन्द मिलेगा।

एक दृष्टान्त सुनिए। एक भेड़ जंगल मे भटक गई। उसे खाने के लिए कुत्ता, चीता सब आ पहुँचे। उसने सोचा मरना ही है तो शेर के हाथों क्यों न मरूँ? वह शेर की गुफा के सामने बैठ गई। चीता उसे खाने आया। भेड़ ने कहा बेशक खा जाओ। परन्तु देख लो कहाँ बैठी हूँ। शेर से शत्रुता लेनी हो तो बेशक खा

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥

कठो० २।२४

जो व्यक्ति दुराचार से हटा नहीं, जो अशान्त है, जो तर्क-वितर्क में उलझा है, जो चंचल चित्तवाला है वह उसे प्राप्त नहीं कर सकता। उसे प्रज्ञान द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

तुम चाहे कितना धन कमा लो, कितने ही विद्वान् बन जाओ, कितनी ही एँ सीख लो, कितनी ही डिग्रियाँ प्राप्त कर लो, कितने ही शास्त्र पढ़ लो, के प्रकाण्ड पण्डित हो जाओ परन्तु यदि तुम्हारा चरित्र उत्तम नहीं तो तुम र होते हुए भी राक्षस कहलाओगे। तुम्हारा मूल्य दो कौडी का भी नहीं । इसलिए चरित्र का सुधार ईश्वर के पास पहुँचने का सबसे बड़ा साधन है। चित्त सदा चंचल बना रहता है, विषय जिसे फसाये रहते हैं, वह उनके भागता रहता है, वह भी प्रभु को नहीं प्राप्त कर सकता, जिसका मन अशान्त प्रभु को नहीं प्राप्त कर सकता।

कठोपनिषद् २।२३ मन्त्र में बतलाया गया है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥

वह परमात्मा न तो व्याख्यानों से प्राप्त होता है, न बुद्धि से और न बहुत से। अपितु वह परमात्मा जिसका वरण कर लेता है उसी भक्त पर अपने का प्रकाश करता है।

बड़े-बड़े उपदेश देनेवाले, महान् बुद्धिमान् और बहुत अनुभवी व्यक्ति उसे नहीं कर सकते। तर्क-वितर्क से उसे नहीं पाया जाता। बहुत अनुभव-को भी वह नहीं मिलता। प्रभु को पाने के लिए हृदय में व्याकुलता और ा जबतक उत्पन्न नहीं होगी, वह प्रभु नहीं मिल सकता। जबतक साधक न साधन से सम्पन्न नहीं हो जाता, जबतक परमात्मा के नित्यस्वरूप के सके मन का सर्वथा संयोग नहीं हो जाता तबतक सारी बातें और सारी शुष्क और व्यर्थ हैं। ऐसे पुरुष का ज्ञान केवल लौकिक और लोकरञ्जक । उससे कोई लाभ नहीं होता। "जो पापों में रत है, जो शम, दम तथा त्तियों के निरोध-रूप समाधि से रहित है; जिसका मन अशान्त है, उसे

केवल [illegible] और मन की [illegible] से ही उसका साक्षात्कार नहीं है। वह सब इन्द्रिय गुणों से युक्त है, जो सूक्ष्म, अगम्य और इन्द्रियों से भिन्न है, [illegible] से भिन्न है और जिसके [illegible] हृदय में [illegible] का प्रकाश हो जाता है, वही उस प्रकाश के द्वारा उस परमात्मा का दर्शन होता है।

इस व्याख्या से विचार हुआ होगा कि यहाँ उस प्रभु को प्राप्त करना है। उसकी कृपा प्राप्त करने का क्या साधन है? मुण्डकोपनिषद् में बतलाया गया है—

> सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
> सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
> अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो
> यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः॥
>
> मुण्डक० ३।१।५

यह परमात्मा 'सत्य' से 'तप' से 'सम्यक् ज्ञान' से और 'ब्रह्मचर्य' से पाया जाता है। शरीर के भीतर ही वह शुभ्र ज्योतिर्मय-रूप में विद्यमान है। यति लोग काम द्वेष आदि दोषों का क्षय करके उसे देख पाते हैं।

> सत्यमेव जयति नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः।
> येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत् सत्यस्य परमं निधानम्॥
>
> —मुण्डक० ३।१।६

सत्य की ही विजय होती है, अनृत की नहीं। 'देवयान पन्था' देव की ओर जानेवाला मार्ग सत्य से बना है। आप्तकाम ऋषि जिस मार्ग से चलते हैं, वहाँ पहुँचते हैं, वह सत्य का ही परमधाम है।

श्वेताश्वतरोपनिषद् के प्रथमाध्याय के १५वें और १६वें मन्त्रों में बताया गया है 'जैसे तिल को पेरने से तेल; और दधि को मथने से मक्खन पाया जाता है अथवा नहर खोदने से पानी और अरणिकाष्ठ के संघर्षण से आग पायी जाती है, वैसे ही सत्य और तपस्या के द्वारा खोज करने पर अपनी आत्मा में ही परमात्मा को पाया जाता है।'

जैसे दूध में मक्खन व्याप्त है, वैसे ही विश्व में परमात्मा व्याप्त है। सम्यक् ज्ञान (आत्मविद्या), उपनिषद् और तपस्या ही उसको जानने के उपाय हैं। यही

उपनिषद् युक्त परब्रह्म है।

मुण्डकोपनिषद् में सत्य की महिमा का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है 'सत्यमेव जयति नानृतम्' सत्य की ही विजय होती है, असत्य की नहीं।

वैदिक धर्म में सत्य पर बड़ा बल दिया गया है। सच बोलना, सच्चा संकल्प करना, सच्चा कर्म करना आदि वेदों का प्रधान उद्देश्य है। आर्य लोग असत्य से बहुत घृणा किया करते थे। शतपथ (३।१।३।१८) कहता है 'अमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति' झूठ बोलनेवाले की पवित्रता नष्ट हो जाती है, झूठ बोलनेवाला अशुद्ध है। असत्य भाषण का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। ताण्ड्य ब्राह्मण ८।६।१३ में बताया गया है 'एतद्वाचश्छिद्रं यदनृतम्' असत्यवादी का तेज भी कम होता जाता है। शतपथ ३।४।२।८ में सत्यवादी को अजेय माना गया है। इसलिए जिसने सत्य के सच्चे स्वरूप को पहचान लिया है, जो काया, वाचा, मनसा सत्याचरण ही करता है उसने परमात्मा को पहचान लिया है। इसीलिए वह त्रिकालदर्शी और जीवन्मुक्त होता है।

जिसका जीवन सत्यमय है वह तो स्फटिक मणि जैसा है। सत्य स्वयं प्रकाश और स्वयं सिद्ध है, अतः आत्मा को प्राप्त करने के लिए और प्रभु की कृपा प्राप्त करने के लिए सत्य का प्रयोग करना चाहिए। 'सत्य' शब्द 'सत्' से बना है जिसका अर्थ 'होना' है। केवल परमात्मा ही तीनों काल में एकरूप है। इस सत्य की जिसने भक्ति की है, इसे अपने हृदय में बैठा लिया है वह आत्मा को प्राप्त कर सकता है।

दूसरा शब्द है 'तपसा' तप के द्वारा परमात्मा को पाया जा सकता है। 'तप' का अर्थ है द्वन्द्वों का सहन करना। ये द्वन्द्व क्या हैं? सुख और दुःख का एक जोड़ा है, जन्म-मरण दूसरा, मान और अपमान तीसरा, सर्दी और गर्मी चौथा। इस प्रकार कितने ही जोड़े हैं। सुख और कष्ट, वर्षा और धूप, शक्तिसम्पन्नता और विवशता, स्वतन्त्रता और परतन्त्रता, भूख और प्यास इनमें से एक हो या दूसरा अपने आदर्श या उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए दोनों को सहन करना, दोनों में से किसी के कारण भी रुकना नहीं, पीछे नहीं हटना, डगमगाना नहीं; यह तप है।

गीता के सत्रहवें अध्याय के १४वें श्लोक से १६वें श्लोक तक तप को तीन भागों में बाँटा गया है। शारीरिक तप, वाणी का तप और मानस तप। इन तीन तपों का पालन भी ईश्वर की प्राप्ति में सहायक होता है। वे तप हैं—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते।।

देवता, ब्राह्मण, गुरु विद्वानों की पूजा, सफाई और सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—यह शारीरिक तप कहलाता है।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते।।

दूसरे को पीडा न देनेवाला वाक्य, प्रिय और हितकारी सत्य और स्वाध्याय करना ये वाङ्मय तप कहलाते हैं।

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत् तपोमानसमुच्यते।।

मन की प्रसन्नता, सौम्यत्व अर्थात् शालीनता, मौन, अपने को वश में रखना और भावों की शुद्धता यह मानसिक तप कहा जाता है।

इन तपों का पालन करनेवाला आत्मा को प्राप्त कर लेता है। ऐसे व्यक्ति पर प्रभु की कृपा भी हो जाती है।

तीसरी वस्तु है सम्यग्ज्ञान, यथार्थ ज्ञान, आत्मा का ज्ञान। यह समझना कि शरीर क्या है, आत्मा क्या है, दोनों की वास्तविकता को समझकर आत्मा को शरीर से कुछ अलग कर देने का नाम है सम्यक् ज्ञान।

इसके पश्चात् चतुर्थ वस्तु है—ब्रह्मचर्य। सदा का ब्रह्मचर्य अर्थात् किसी भी समय अपने मन में खोटे विचार न आने देना। ब्रह्मचर्य का अर्थ है, महान् बनना। ब्रह्मचर्य का दूसरा अर्थ है, इन्द्रियों का संयम करना और ब्रह्मचर्य का तीसरा अर्थ है, काम-वासना का संयम।

जब मनुष्य में ये चारों बातें हों, तब कहीं बाहर जाकर नहीं, अपितु इसी शरीर में उस अत्यन्त लाभदायक और ज्योतिर्युक्त स्वर्ग को ऐसे तपस्वी लोग देखते हैं जिनकी त्रुटियां दूर हो गई हैं, जिन के दोष समाप्त हो गये हैं। इस प्रकार हम आत्मा या परमात्मा को जान सकते हैं।

वेद में प्रकृति का स्वरूप

ईश्वर, जीव और प्रकृति—ये तीन तत्त्व अनादि और अजन्मा हैं। ऋग्वेद में ईश्वर, जीव और प्रकृति का आलंकारिक रूप में वर्णन करते हुए एक मन्त्र आया है—

> त्रयः केशिन ऋतुथा वि चक्षते संवत्सरे वपत एक एषाम्।
> विश्वमेको अभि चष्टे शचीभिर्ध्राजिरेकस्य ददृशे न रूपम्॥
>
> —ऋ० १।१६४।४४

(त्रयः) तीन (केशिनः) प्रकाशमय पदार्थ (ऋतुथा) नियमानुसार (वि चक्षते) विविध कार्य कर रहे हैं। (एषाम्) इनमें से (एकः) एक (संवत्सरे) काल में—सृष्टिकाल में अथवा वासयोग्य संसार के लिए (वपते) बीज डालता है (एकः) एक (शचीभिः) शक्तियों से, कार्य से, बुद्धि से (विश्वम्) संसार को (अभिचष्टे) दोनों ओर से देखता है (एकस्य) एक का (ध्राजिः) वेग तो (ददृशे) दीखता है किन्तु (रूपं न) रूप नहीं दीखता।

ईश्वर, जीव और प्रकृति जगत् के कारण हैं। ऋग्वेद १।१६४।२० में कहा गया है—

> द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
> तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति॥

यह मन्त्र मुण्डकोपनिषद् ३।१।१ में भी आया है।

दो पक्षी हैं, सुन्दर पत्तोंवाले, साथ-साथ जुड़े हुए, एक-दूसरे के सखा। एक ही वृक्ष को सब ओर से घेरे हुए हैं वे। उनमें से एक वृक्ष के फल को बड़े स्वाद से चख रहा है, दूसरा बिना चखे सब-कुछ देख रहा है। जीवात्मा तथा परमात्मा ही दो पक्षी हैं, प्रकृति ही वृक्ष है, कर्म-फल ही वृक्ष का फल है। जीवात्मा को कर्म-फल मिलता है, परमात्मा प्रकृति में सक्त हुए बिना सम्पूर्ण विश्व का द्रष्टा है।

[illegible] (Formula) का काम देते हैं। [illegible]
[illegible] है।

प्रश्न—इस प्रकृति से [illegible] कैसे बना ?

उत्तर—'प्रकृति' में जब विषमावस्था आई [illegible] हुई तब [illegible] के विक्षोभ की दृष्टि का आरम्भ हुआ।

प्रश्न—विक्षोभ की दृष्टि का आरम्भ किस प्रकार हुआ ?

उत्तर—इस प्रकृति (Nature) में जब सृष्टि का विक्षोभ प्रारम्भ हुआ तब सबसे पहले 'महत्' प्रकट हुआ।

प्रश्न—'महत्' किसे कहते हैं। इसे जरा समझाकर कहिए ?

उत्तर—देखो, महत् का अर्थ है महान्, विशाल, बड़ा। 'महत्' का अर्थ इसको [illegible] के लिए [illegible] रखना चाहिए कि महत्ता या विशालता दो प्रकार की हो सकती है, एक तो मात्रा की दृष्टि से जिसे हम 'मात्रात्मक' (Quantitative) कह सकते हैं अर्थात् जहाँ विचार है मात्रा की विशालता का, अर्थात् इतनी विशाल, इतनी महान् कि इसका कुछ पारावार नहीं, दूसरा विचार का 'गुणात्मक' (Qualitative) अर्थात् इसमें इतना गुण भरा है कि उसका भी पारावार नहीं, ओर-छोर नहीं। इन दोनों को 'महत्तत्व' का नाम दिया जाता। पहले मात्रात्मक रूप प्रकट हुआ और उसके बाद गुणात्मक विकास आरम्भ हुआ अर्थात् प्रकृति में जो गुण अपार मात्रा में भरा हुआ है वह प्रकट होने लगा। प्रत्येक वस्तु जो प्रकृति-रूप में थी, अव्यक्त-रूप में थी, बीज-रूप में थी, छिपी हुई थी, वह व्यक्त होने लगी, प्रकट होने लगी, बीज में से फूटने लगी अर्थात् सब वस्तुएँ अलग-अलग दीखने लगी। उनका व्यक्तित्व या पृथक् सत्ता हो गई।

प्रश्न—इस अवस्था 'व्यक्तित्व' का क्या नाम है ? दर्शन में इसे क्या कहते हैं ?

उत्तर—जबतक सृष्टि 'प्रकृति'-रूप में थी, अव्यक्त-रूप में थी तब जड़-चेतन किसी की भी व्यक्त सत्ता न थी। जब सृष्टि विकृति-रूप में आई, तब प्रत्येक वस्तु का अपना-अपना पृथक् आकार प्रकट होने लगा। उसमें 'व्यक्तित्व'-वैयक्तिकता (Individuality) आने लगी। इसी व्यक्तित्व वैयक्तिकता, अहत्व को सांख्य ने 'अहंकार' का नाम दिया है अर्थात्

प्रकृति से 'महत्'=मात्रात्मक और गुणात्मक-रूप में उत्पन्न हुए। उस 'गुणात्मक' विकास से प्रत्येक वस्तु का अलग-अलग व्यक्तित्व हुआ अर्थात् पहले प्रकृति में एक तत्त्व था, सारी अनेकता एकता में विलीन हो चुकी थी, अब जब विकास प्रारम्भ हुआ तब एकता से अनेकता विकसित होने लगी।

प्रश्न—एकता से अनेकता विकसित होने का क्या मतलब है?

उत्तर—एकता से अनेकता विकसित होने का तात्पर्य यह है कि प्रकृति भौतिक है, इसलिए पञ्चमहाभूतों का विकास हुआ—पृथिवी, अप्, तेज, वायु, आकाश। यह पञ्चमहाभूत भी व्यक्त होने से पहले अव्यक्त रूप में थे, इसलिए उनकी अव्यक्त से व्यक्त होने की प्रक्रिया में उनका पहले-पहल जो रूप था उसे सांख्य 'पञ्चतन्मात्र' नाम से पुकारता है।

प्रश्न—'पञ्चतन्मात्र' का क्या भाव है? ज़रा स्पष्ट कीजिए।

उत्तर—'तन्मात्र' का अर्थ है—बस, 'उतना-सा', 'सूक्ष्म-सा', 'अप्रकट-सा', 'अव्यक्त-सा'। 'उतना-सा, 'सूक्ष्म-सा' का अर्थ है—न बिल्कुल सूक्ष्म ही; न बिल्कुल स्थूल ही, न बिल्कुल अव्यक्त ही, न बिल्कुल व्यक्त ही, न बिल्कुल अप्रकट ही, न बिल्कुल प्रकट ही। इसी को 'तन्मात्र' कहते हैं।

प्रश्न—'तन्मात्र' कितनी हैं?

उत्तर—*पृथिवी तन्मात्र, अपस् तन्मात्र, तेजस् तन्मात्र, वायु तन्मात्र, आकाश तन्मात्र।* इन तन्मात्राओं से स्थूल-रूप में पृथिवी, अप्, तेज, वायु और आकाश बने। यह विकास ब्रह्माण्ड में हुआ।

प्रश्न—देह में अंगों का विभेदीकरण कैसे हुआ?

उत्तर—*देह की सृष्टि में भी अंगों का विभेदीकरण हुआ और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ,* पाँच कर्मेन्द्रियाँ विकसित हुईं। इनमें से आँख, नाक, कान, जीभ, त्वचा ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, हाथ, पैर, वाणी, पायु, उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा एक मन ये ग्यारह इन्द्रियाँ हैं। इनका आधार प्रकृति है। सांख्य में इन्हें 'करण' माना गया है। करण का अर्थ है साधन। ये साधन हैं किसके? पुरुष के, आत्मा के। आत्मा को सांख्य में 'पुरुष' कहा है। "पुरि शेते' इति पुरुष है। जो शरीररूपी पुरी में शयन करता है अर्थात् जीवात्मा। यह आत्मा—अपने को मिलाकर २५ की टोली के साथ इस संसार की यात्रा करता है।

सारा विश्व प्राकृतिक है

अविर्वै नाम देवतर्तेनास्ते परीवृता।
तस्या रूपेणेमे वृक्षा हरिता हरितस्रजः ॥

अथर्व० १०।८।

(वै) निश्चय से (अवि नाम) अवि प्रकृति नामक एक (देवता) देवता दिव्यगुणयुक्त पदार्थ है, जो सदा (ऋतेन) सत्य नियम से (परीवृता) (आस्ते) रहती है अर्थात् जिसमे सब परिणाम नियमानुसार होते हैं अथवा (ऋ परीवृता आस्ते) सर्वव्यापक परमात्मा से परि—सब ओर—अन्दर से बाहर —आच्छादित रहती है अथवा जीव समुदाय मे अपने-अपने अभिलषित भोग प्राप्ति के लिए (परीवृता आस्ते) घिरी रहती है, गृहीत की जाती है (तस्याः) के रूप से (इमे) यह (हरितस्रजः वृक्षाः) हरी मालाओंवाले वृक्ष (हरिता) भरे रहते हैं।

इस मन्त्र मे पहला शब्द अवि आया है। अवि शब्द 'अव्' धातु से बना जिसका अर्थ है 'स्वाम्यर्थ' अर्थात् स्वामी के लिए। प्रकृति का स्वामी कौन है पुरुष—जीव को सांख्य-योग शास्त्रों में प्रकृति का स्वामी कहा गया है और प्र को स्व—धन-सम्पत्ति कहा गया है। जीवात्मा प्रकृति-रूपी धन का स्वामी इसीलिए प्रकृति स्वाम्यर्थ हुई।

दूसरा शब्द 'ऋतेन' है। ऋत शब्द का अर्थ सत्य भी होता है। परन्तु, ऋ और सत्य शब्दों मे अन्तर है। 'ऋत' का अर्थ है प्राकृतिक नियम या प्राकृतिक जग तथा 'सत्य' अर्थात् ज्ञान। वैदिक साहित्य मे ऋत शब्द का प्रयोग प्राकृतिक निय के सम्बन्ध मे अधिकतर हुआ है। ऋत और ऋतु ये शब्द आपस मे मिलते-जुल हैं। ऋतु शब्द प्राकृतिक नियम को गर्दी तथा गर्मी के अनुपात के कम अधिक होने को कह रहा है। ऋत शब्द ऋतु शब्द की अपेक्षा व्यापक अर्थ रखत है। प्राकृतिक नियम या परमात्मा द्वारा दिये गये प्रकृति के नियम ऋत कहे ज सकते हैं। इस 'ऋतेन परिवृता' का अर्थ सर्वव्यापक परमात्मा से आच्छादित ... किया गया है। इससे अधिक विस्तृत करते हुए हम कह सकते हैं कि

प्राकृतिक नियमों का रचयिता सर्वव्यापक, सर्वज्ञ परमात्मा ही है। प्राकृतिक नियमों का रचयिता वह तभी हो सकता है जब उसने प्राकृतिक जगत् का निर्माण भी किया हो। इस प्रकार प्राकृतिक नियम परमात्मा से उत्पन्न हुए हैं। सन्ध्या के मन्त्रों में इसीलिए कहा गया है 'ऋतं च सत्यं चाभिद्धात्तपसोऽध्यजायत।' इस प्रकार ऋत शब्द का अर्थ जीवन के नियम हैं। पदार्थों में आकर्षण-शक्ति का विद्यमान रहना 'ऋत' और इस आकर्षण शक्ति का हमारे जीवनों के साथ सम्बन्ध होना अर्थात् इसका हमें ज्ञान होना 'सत्य' है। इस प्रकार ऋत नियमों का सूचक है और सत्य शब्द ज्ञान का।

सन्ध्या के 'ऋतं च सत्यं चाभिद्धात्' मन्त्र में यह बतलाया गया है कि ऋत और सत्य परमात्मा से उत्पन्न हुए अर्थात् प्राकृतिक संसार और उसका ज्ञान परमात्मा से उत्पन्न हुए। इस संसार के सभी पदार्थ नियमों से ढके रहते हैं। एक कवि ने कहा है—

सूर्य चन्द्र नभ पवन अग्नि जल, शक्तिकिरण विद्युत सारे।
सभी नियता के नियमों में, बँधे चल रहे हैं सारे।
अटल नियम हैं इन देवों के, इन्हें तोड़ना है न सरल।
स्वयं मिटे जो इन्हें मिटाता, चाहे कितना हो न सबल।
नियम और बन्धन में प्रभु के, निहित हुआ है जग कल्याण।
इनका करके अतिक्रमण नर, पा सकता न कहीं भी त्राण।
कितना भी हो क्षमताशाली, हो शतवीर्य और बलधाम।
ऐसे समय न साथी कोई, आ सकते उसके कुछ काम॥

प्रकृति का विकास होते हुए जिन २४ तत्त्वों का निर्माण हुआ है वे क्या हैं? सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः' ब्रह्माण्ड की सूक्ष्म अवस्था से पूर्व ब्रह्माण्ड अव्याकृत अवस्था में होता है। इस अव्याकृत अवस्था का नियामक होने से परमात्मा का नाम ईश्वर है। परमात्मा अपना ईशन (ईश+वर) अर्थात् नियमन का कार्य मुख्यरूप से इस अव्याकृत अवस्था द्वारा करता है। जगत् के मूलकारण की परिणत अवस्थाओं में भी ईशन ही काम दे रही है। जिस प्रकार मशीन के पुर्जे में गति देने से समग्र मशीन गति में हो जाती है, इसी प्रकार मूलकारण या मूलप्रकृति में प्रेरणा देनेवाली ईशनशक्ति ही सूक्ष्म तथा स्थूल जगत् में ईशन— प्रेरणा का कार्य कर रही है। इस प्रकार ईशन शक्ति का मुख्य सम्बन्ध बुद्धि